



**DELHI UNIVERSITY
LIBRARY**

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. ✓ 220M 91

Ac. No. 111

Date of release for loan

This book should be returned on or before the date last stamped below. An overdue charge of 0.5 nP will be charged for each day the book is kept overtime.

मौलाना अबुलकलाम आज़ाद (जीवन चरित्रात्मक संस्मरण)

लेखक
श्री महादेव देसाई
भूमिका लेखक
महात्मा गांधी

न व यु ग

सा हि त्य
इ न्दी र

स द न

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०, आगरा के लिए
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर
द्वारा प्रकाशित

पहली बार : १९४६

मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
समरचंद्र राजर्षि प्रेस, दिल्ली।

प्राक्कथन

मुझे १९२० से मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के साथ रहकर राष्ट्रीय कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । इस्लाम के ज्ञान में उनकी समता कोई भी नहीं कर सकता । वह अरबी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उनकी राष्ट्रीयता इतनी ही प्रखर है जितनी कि उनकी इस्लाम के प्रति निष्ठा । वह आज राष्ट्रीयमहासभाके सर्वेसर्वा हैं । इसका गूढ अर्थ है, जिसे किसी भी भारतीय राजनीतिके विद्यार्थी को न भूलना चाहिये ।

सेवाग्राम वर्धा
१८ मई, १९४०

मो० क० गांधी

प्रस्तावना

आज इस पुस्तक को इंग्लैण्ड में व्यापक-रूप से पढ़ा जाना चाहिये । जब-जब जनता का ध्यान हिन्दुस्तान की हलचलो के बारे में आकर्षित किया जाता है, (और हम ससार में हिन्दुस्तान का जितना महत्व हैं उससे कम ही उसके विषय में जानते हैं) तब-तब ९ करोड़ मुसलमान और २० करोड़ हिन्दुओं के बीच दिखाई देने वाले असामंजस्य पूर्ण मत-भेदों का चित्र हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया जाता है । इस पुस्तक के पाठकों को पता चल जायगा कि यह चित्र कितना गलत है । यह बात नहीं है कि श्रीयुत् देसाई हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य को घटाकर दिखाना चाहते हैं, बल्कि वे बता देना चाहते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा के वर्तमानराष्ट्रपति मौलाना अबुलकलाम आज़ाद—जो स्वयं सच्चे और पक्के मुसलमान हैं—और उनके बहुत से हिन्दू और मुसलमान साथी वर्षों से हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक विरोध को मिटाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे दिखा देना चाहते हैं कि स्वयं कांग्रेस निरन्तर दृढ़ता के साथ इस बात का समर्थन करती रही है कि स्वतन्त्र भारत की जनतात्रिक शासन-व्यवस्था में अल्प-संख्यकों के धार्मिक अधिकारों की पूरी-पूरी रक्षा हो । उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कांग्रेस यह कभी नहीं चाहती कि हर बात में (जैसा कि इस देश के लोगों का विश्वास है) बहुसंख्यकों की ही चलती रहे । इस पुस्तक के पाठक यह भी अनुभव करेंगे कि जब तक प्रमुख नेता इस बात पर जोर देते रहेगे और कांग्रेस के दृष्टिकोण को गलत ढंग से पेश करते रहेगे—चाहे जानकर या अपूर्ण जानकारी के कारण—तब तक भारतवासी इस विश्वास को कैसे छोड़ सकते हैं कि इंग्लैण्ड की भारतीय नीति 'भेद पैदा करो और शासन करो' के सिद्धान्त पर आधारित है ।

दुःख की बात है कि जिस समय यह प्रस्तावना लिखी जा रही है,

उस समय हमारी सरकार और कांग्रेस में फिर एक बार खुला संघर्ष हो गया है और भारत के श्रेष्ठतम पुत्र और पुत्रियां जेल में बन्द हैं । हमें आशा है कि निकट भविष्य में समझौते का मार्ग निकल आयेगा । ऐसे समझौते का पहला कदम वह होगा जब कि ब्रिटिश सरकार इस बात को स्वीकार कर लेगी कि भारतीय अल्प-संख्यकों के अधिकारों का प्रश्न ब्रिटिश हस्तक्षेप पर निर्भर नहीं है । साथ ही उसे यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इन मामलों में गांधी, नेहरू और अबुल कलाम आजाद जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में संचालित बहुमत वाली पार्टी की प्रत्येक बात पर विश्वास करना आवश्यक है, चाहे इसके कुछ ज़हर उँगलने वाले और ग़ैर जिम्मेदार सदस्य हाथ-तोबा ही क्यों न मचाते रहें ।

इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ब्रिटिश पाठकों की वर्तमान गलत धारणाएँ दूर हो जायगी । यदि हम भारत के माघ न्याय का बर्ताव करें तो यूरोप और विश्व में भी न्याय की अभिवृद्धि सम्भव है ।

इस पुस्तक के लेखक महात्मा गांधी के सेक्रेटरी और निकट सम्पर्क में रहने वाले हैं तथा साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' के सम्पादक हैं ।

दिसम्बर

होरेस जी० अलेक्जेंडर

१९४०

सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	१
प्रतिष्ठित परिवार	६
माता-पिता और बचपन	१०
साहित्यिक-प्रतिभा	१५
'मलहिलाल' का जन्म	२०
नजरबन्दी	२६
बाढ़	३९
निष्ठा की बाढ़	४५
समय का चक्र	५८
धार्मिक विचार	६९
विशेषताएं	८०
दूसरा आन्दोलन	९०
एक रचनात्मक कार्यकर्ता की हैसियत से	१००
युद्ध-संकट	१०६
कर्णधार	११४
भविष्य	१२४
परिशिष्ट	१३२
तात्का क्रम	१३५



محمد لطف الله العالِم آقا

मौलाना अबुलकलाम आज़ाद

भू मि का

जब मार्च १९४० में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद रामगढ़ कांग्रेस के सभापति चुने गये और उनको १८५४ तथा उनके विरोधी को १८३ वोट मिले, तब न तो किसी को आश्चर्य हुआ और न भारतीय पत्रों में ही उल्टे-सीधे कुलाबे मिलाये गये। उनके लिए यह तो पहले से मानी हुई बात थी। फिर भी ब्रिटिश पत्रों में बे-सिर-पैर की बातें प्रकाशित हुई और अटकलबाज़ी का बाज़ार गरम रहा। कहा गया कि चुनाव इस उद्देश्य से किया गया है कि, कांग्रेस मुसलमानों के पक्ष में है और मुसलमान कांग्रेस के पक्ष में। यह भी सुझाया गया कि, यह उन मुसलमानों के लिए एक प्रकार का प्रलोभन था जो मुसलिम-लीग से सहानुभूति तो रखते हैं लेकिन, यदि प्रयत्न किया जाय तो उन्हें कांग्रेस के झण्डे के नीचे लाया जा सकता है। लेकिन, वास्तव में ऐसी कोई बात न थी। आज हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य जितनी भयानक स्थिति में पहुँच गया है उतनी भयानक स्थिति उसकी कभी नहीं हुई थी। किन्तु, इस बात से भी चुनाव का कोई सम्बन्ध नहीं। उनका नाम ता सन् १९३८ में ही हर एक आदमी की ज़बान पर था और यदि ऐन मौके पर उन्होंने अपना नाम वापिस न ले लिया होता तो वे सन् १९३९ के त्रिपुरी अधिवेशन के लिए सर्वसम्मति से न सही—प्रचण्ड-बहुमत से राष्ट्रपति अवश्य चुने गये होते।

एक मुसलमान का राष्ट्रपति चुना जाना कांग्रेस के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। गांधी-काल के पहले भी बहुत से मुसलमान राष्ट्रपति रह चुके हैं। उसी तरह ईसाई और पारसी भी राष्ट्रपति रहे हैं। और गांधी-युग में अर्थात् पिछले २० वर्षों में कम-से-कम ४ राष्ट्रपति

मुसलमान रहे हैं, जिनमें एक स्वयं मौलाना साहब थे। यह सन् १९२३ की बात है, जब ३५ वर्ष की छोटी सी आयु में उन्हें राष्ट्रपति चुना गया था। इसलिए, यदि, उनके इस साल राष्ट्रपति चुने जाने का कोई उद्देश्य है तो सिर्फ यह कि कांग्रेस पहले से कहीं अधिक जोरदार तरीकों से साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को अस्वीकार करती है और ऐसे किसी भी हिन्दुस्तानी के हाथ में, जो देश का प्रथम सेवक बनने के योग्य हो, देश की बागडोर सौंपने के लिए तैयार है। यदि पश्चिम के लोग मौलाना से परिचित न हों तो कोई बात नहीं है। लेकिन भारत के लोग निश्चित-रूप से अपने इस प्रथम सेवक को जानते हैं जिसने आज से बहुत दिन पहले सन् १९२३ में कांग्रेस का अध्यक्ष-पद प्राप्त किया था। वह इसलिए कि उन्होंने गांधीजी से भी पहले अपने आपको विद्रोही के रूप में प्रसिद्ध कर दिया था। सन् १९१६ में जब विश्वयुद्ध चल रहा था, गांधी जी सहयोग वादी थे और उन्होंने ब्रिटिश-शासन के प्रति अपनी राज-भक्ति की घोषणा करके उसका प्रचार किया था। लेकिन, मौलाना ने उस समय भी अपने-आपको विद्रोही घोषित किया था जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश-सरकार द्वारा उन्हें नजरबन्द होना पड़ा था। यह एक बड़े मार्क की बात है कि यह वह प्रमुख मुस्लिम नेता है जिसने गत महायुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार से लोहा लिया और आज उस कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में संभाले हुए हैं जिसने ब्रिटेन को वर्तमान महायुद्ध में उस समय तक सहयोग देने से इन्कार कर दिया है; जब तक वह अपना साम्राज्यवादी चोला उतार कर नहीं फेंक देता और भारत की स्वतंत्रता को नहीं स्वीकार कर लेता। उनके उर्दू पत्र 'अल-हिलाल' ने दो-तीन वर्षों में ही अंग्रेजों की निर्भीक आलोचना करके इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि सरकार ने उसकी जमानत ज़ब्त करके उसका गला घोटना आवश्यक समझा और नये सिरे से भारी जमानत मांगी और उन्हें स्वयं नजरबन्द कर दिया।

नजरबन्दी ने उनके विचारों को तो न बदला, उन्हें भारत में ब्रिटिश-शासन का कट्टर विरोधी ज़रूर बना दिया। और जब सन् १९२० में वे जेल से बाहर आये तो उन्होंने देखा कि देश के असंख्य अनुषंगी की आंखें खुल गई हैं और उन्होंने राजभक्ति से नाख तोड़ लिया है। इस

प्रकार उनके शिर-पोषित स्वप्न को पूरा करने योग्य अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित हुईं। दस वर्ष पहले उनकी आवाज नवकारखाने में तूती की आवाज थी। उन्हें अपने सह-धर्मियों को समझाना पड़ता था कि वे अपने को राजभक्ति से अलग कर लें, अपने-आपका एक ही मातृ-भूमि के बच्चे समझे, और दोनों जातियाँ एक साथ मरना और जीना सीखें। नज़रबन्दी से मुक्त होने पर उन्होंने देखा कि परिस्थितियों ने कुछ ऐसा पलटा खायु है कि, सम्प्रदायों ने अच्छे-बुरे काम को एक साथ करने और उसके फल को समान-रूप से भोगने का निश्चय कर लिया है। उनके लिए यह प्रसन्नता-दायक आश्चर्य था। तभी से उन्होंने अपने भाग्य को हिन्दू, पारसी, सिक्ख और ईसाई देशवासियों के भाग्य के साथ बाँध दिया और आन्दोलन के भीषण-से-भीषण परिवर्तन उन्हें अपने इरादे से बालभर भी न डिगा सके। उन्होंने रामगढ़ कांग्रेस के अध्यक्ष पद से दिये गये अपने स्मरणीय अभिभाषण में कहा कि “मैं जहाँ पहले था वही आज भी डटा हूँ। मैंने सन् १९१२ में उनको (अपने सह-धर्मियों को) इस प्रश्न के विषय में विचार करने के लिए कहा था। मैंने उन अनेक घटनाओं पर ध्यानपूर्वक सोचा है जो अब तक घट चुकी हैं। मेरी आँखों ने उन्हें देखा; और मेरे मस्तिष्क ने उन पर चिन्तन किया। ये घटनाएँ महज मेरी बगल से कतरा कर नहीं चली गईं। मैं उन घटनाओं के भीतर था। उनमें मैंने हिस्सा लिया था और हर परिस्थिति की गंभीरता से जाँच पड़ताल की थी। जो मैंने देखा और समझा उससे इन्कार नहीं कर सकता। मैं अपने निश्चय से डिग भी नहीं सकता। न मैं अपने विवेक की पुकार को ही दबा सकता हूँ। मैं आज उसी बात को दोहराता हूँ जो अब तक कहता आया हूँ। अर्थात् हिन्दु-स्तान के ९ करोड़ मुसलमानों के लिए जो रास्ता सन् १९१२ में बताया था उसको छोड़कर काम करने का भी कोई सही रास्ता नहीं है।” साम्प्रदायिक बैमनस्य के कितने ही निन्दनीय दृश्य देखने में आये, पहले के मित्र और साथी विरोधी दल में जा मिले। धीरे-धीरे दोनों सम्प्रदायों के बीच की खाई चौड़ी होती गई, लेकिन वे चट्टान की तरह अडिग और अटल हैं और उनका निश्चय है कि यदि उन्हें सारा-का-सारा मुसलिम जगत छोड़ दे या घृणा करने लगे तब भी वे अपनी बात पर अकेले ही

जमे रहेंगे। हिन्दू-मुसलिम एकता की आवश्यकता में तथा हिन्दू और मुसलमानों के सम्मिलित भाग्य में उनका विश्वास पहले से कहीं अधिक बढ़ है। यही बात है कि, जिसके कारण उनके अग्रणीत देशवासियों के हृदय में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होगया है। और उन्होंने ऐसे नाजुक अवसर पर उन्हें राष्ट्रीय महासभा का बहुमत से अध्यक्ष चुना है। मैं अगले पृष्ठों में इस अद्वितीय पुरुष के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा देना चाहता हूँ।

पश्चिम के उन पाठकों के लिए जो मौलाना साहब को बिल्कुल नहीं जानते, इस पुस्तक का विशेष महत्व है। पाश्चात्य विद्वानों ने सर सैय्यद अहमद की जीवनी और उनके कार्य का काफी अध्ययन किया है। मुसलमानों के भीतर पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार करने वाले वे सर्व-प्रथम व्यक्ति थे और वे अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा प्रचण्ड शक्ति की मुसलिम भारत पर अमिट छाप छोड़ गए थे। पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इस और आकर्षित करने तथा उनकी जीवनी तथा कार्य से परिचित होने के लिए उस काल का परिस्थिति स्वयं पर्याप्त थी। लेकिन दूसरा एक कारण, और वह बड़ा जबरदस्त कारण था। यदि उन्होंने मुसलमानों के हृदयों में क्रान्ति का बीज बोया तो उन्होंने अंग्रेजों को यह भी बता दिया कि वे भारत में अंग्रेजी राज्य के कट्टर हिमायती हैं। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों ने सर सैय्यद अहमद खां के कार्यों से पश्चिमी-जगत को परिचित कराने का प्रयत्न किया तो उसका कारण यह था कि वे ऐसा करके मुसलमानों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना चाहते थे। मौलाना साहब २५ साल से अधिक अंग्रेजी राज्य के खिलाफ विद्रोही रहे हैं। इसलिए पश्चिमी पाठकों को, विशेष कर अंग्रेजों को उनके बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी हासिल करना जरूरी है। क्योंकि, वह समय निश्चित-रूप से आयेगा कि जब अंग्रेज लोग यह महसूस करेंगे कि गांधी, नेहरू और मौलाना जैसी साहसी आत्माओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह करते हुए, उस विद्रोह के द्वारा ब्रिटिश-जनता की अमूल्य सेवा की है।

भारतीय पाठकों के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता मनोवांछित वस्तु है। उसकी वृद्धि में जो भी कार्य हो—चाहे छोटा ही क्यों न हो—विशेष महत्व रखता है। अब वे दिन बीत गए जब कि हम भाषणों,

सम्मेलनों और प्रस्तावों पर जोर दिया करते थे। आज तो हम म से प्रत्येक को मातृ-भूमि के सेवक के नाते अपने अनुकूल कोई-न-कोई आदर्श अवश्य रखना चाहिए, चाहे वह आदर्श छोटा ही क्यों न हो। जब तक हम साम्प्रदायिक शान्ति और मेल के सदेश को मनसा, वाचा और कर्मणा नहीं अपनाते तबतक एका न हो सकेगा। और उसके बगैर आजादी असम्भव है। और यदि संभव भी हो तो उसका होना न होने के बराबर है। मौलाना ने और सब बातों से अधिक इसी सदेश को अपनाया है। इसलिए उनके जीवन और कार्य का उचित मूल्य-अंकन उस महान् उद्देश्य के लिए एक छोटी-सी देन का कार्य करेगा।

प्रतिष्ठित परिवार

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अपने वंश का उद्गम उस पूर्वज से मानते हैं जिसने मुगल सम्राट अकबर के शासन-काल में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस पूर्वज का नाम शेख जमालुद्दीन देहलवी था, जिसका उल्लेख मुसलिम इतिहास में रहमतउल्ला अले के रूप में हुआ है। रहमतुल्ला अले का मतलब होता है ऐसा सन्त जिसपर ईश्वर की कृपा हो। उन्होंने न केवल साधु-सन्यासी का-सा जीवन व्यतीत किया, बल्कि, वे एक ख्यातनामा धर्मात्मा भी थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जो आज तक बड़ी प्रामाणिक समझी जाती हैं। इन पुस्तकों में मुसलमानों के अत्यन्त विस्वसनीय ग्रंथ हदीस (इसलाम की परम्परा) पर लिखा हुआ उनका भाष्य है जो, अत्यन्त प्रामाणिक समझा जाता है और जिसकी मुसलिम धार्मिक पुरुष शपथ लेते हैं। उनके कितने ही शिष्य थे जिनमें सम्राट अकबर के भाई खाने आज़म भी थे। कहा जाता है कि सम्राट अकबर ने उनकी विद्वत्ता को राजकीय सम्मान देने के लिए केंद्रीय धर्म विद्यालय का मुख्य-अधिष्ठाता बनाना चाहा था। वह उन्हें अन्य पारितोषिक भी बड़ी खुशी से दे सकते थे लेकिन उन्होंने यह सब लेना मंजूर नहीं किया।

यह घटना इस बात के लिए बाध्य करती है कि, अकबर के जीवन और काल की एक क्षणिक भांकी प्राप्त करें। अकबर की सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जिन्होंने अकबर को यह सहिष्णुता सिखाई वे थे मुल्ला मुबारक। उन्हें उस काल के कट्टर धर्म गुरुओं के द्वारा नाना प्रकार की लांछनाएँ सहनी पड़ी थीं। इन्हीं के सुपुत्र थे अबुल फ़जल। अबुल फ़जल ने सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता

पर विशेष रूप से ज़ोर दिया था। और अबुल फज़ल के प्रचार के कारण ही अकबर ने निष्पक्ष जाच का विचार किया था जिसके फलस्वरूप इबादत-खाने (प्रार्थना मंदिर) की स्थापना हुई थी, जहाँ विभिन्न धर्मों के नेता और चण्डित निर्बाध-रूप से शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित किये जाते थे। एक बार अबुल फज़ल ने बहस के लिए यह प्रस्ताव किया कि राजा को न केवल राजकीय मामलों का प्रधान सम्भा जाय बल्कि प्रजा के धार्मिक मामलों का भी पथ-प्रदर्शक माना जाय। मौलाना ने उस समय का जो विवरण दिया वह बड़ा ही रोचक है। अपने मुगल इतिहास के गंभीर ज्ञान के आभार पर मौलाना ने कहा, 'मथुरा में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच झगडा हो गया और कुछ हिन्दुओं ने एक मसजिद को नेस्तनाबूद कर दिया। अकबर हिन्दुओं को बचाना चाहता था। इसलिए उसने मुसलमानों को सम्भाया कि हिन्दुओं को माफ कर दिया जाय। लेकिन, मुसलमानों के मुल्ला हिन्दुओं से बदला लेने पर तुले हुए थे। मुल्ला मुबारक ने मुल्लाओं के प्रभाव को कम करने के लिए एक चाल चली। उन्होंने कहा कि प्रस्ताव पर बहस कर ली जाय और मुल्लाओं की सम्मति से निर्णय कर लिया जाय। अब, अकबर के अधिकार से सम्बन्धित प्रस्ताव का कौन विरोध कर सकता था? एक इतिहास-कार लिखता है वे एक ऐसे परिणाम पर पहुँचे जिसे वे सम्बन्ध सम्झते थे लेकिन, वास्तव में उन्होंने अपनी हार स्वीकार करली थी। उन्होंने एक दस्तावेज तैयार की जिसमें लिखा था कि अकबर न्यायी-शासक है। न्यायी-शासक की हैसियत से उन्होंने अकबर को "मुज्तहिन्द" का पद प्रदान किया। "मुज्तहिन्द का अभिप्राय उस अधिकारी से है जो इस्लाम से सबधित किसी मामले में कमी गलती न करे।" अबुल फज़ल के पिता मुल्ला मुबारक ने हस्ताक्षर किये और देश के अन्य प्रमुख धार्मिक नेताओं को भी हस्ताक्षर करने का निमंत्रण दिया। आगरा, जौनपुर तथा अन्य स्थानों के नेताओं ने इसपर हस्ताक्षर कर दिये और दिल्ली के नेताओं ने भी ऐसा ही किया। हमारे चरित-नायक के पूर्वज शेख जमालुद्दीन ने इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। और कुछ धर्मगुरुओं ने इनका अनुकरण किया। हम यह नहीं कह सकते कि इसकी वजह से शेख जमालुद्दीन अकबर के क्रोध के शिकार हुए या

नहीं; लेकिन उन्होंने हिन्दुस्तान छोड़ दिया और मक्का चले गये ।

मैंने मौलाना से पूछा—“तो क्या यह आपके सबसे पहले पूर्वज है जिन्होंने आपके लिए सत्याग्रह की यह महान् विरासत छोड़ी है ?”

मौलाना ने मुसकराते हुए कहा, “हां, निश्चय ही आप ऐसा समझ सकते हैं । यह सत्याग्रह का एक उदाहरण था । लेकिन, इसके लिए मैं आपको उनके बाद के एक पूर्वज के जीवन से दूसरा उदाहरण दे सकता हूँ ।”

“मे कृतज्ञ हुगा”, मैंने कहा, और मौलाना ने अन्य पूर्वजों की कथा सक्षिप्त-रूप में कहना शुरू किया । “शेख जमालुद्दीन से मैं अपने वंश की नौवीं या दसवीं पीढ़ी में हूँ” उन्होंने कहा । “मैं अपनी समस्त वंशावली से आपको परेशान नहीं करना चाहता । साधारण लोगो का विचार है कि विद्या और धन लगातार दो-तीन पीढ़ियों से अधिक नहीं रहते । लेकिन, प्रसन्नता की बात है कि यह सिद्धान्त मेरे वंश के विषय में लागू नहीं होता । मैं कह सकता हूँ कि मेरे वंश में एक भी आदमी ऐसा नहीं हुआ जिसने विद्वत्ता और सूफीवाद (रहस्यवाद) में ख्याति न पाई हो । मैं अपने एक वंशज शेख मुहम्मद की कहानी सुनाता हूँ जो जहागीर के समय में चमक उठे थे । किसी ने बादशाह के सामने कोरनिश (घुटने टेक कर सलाम करना) की प्रथा चला दी । फिर क्या था ? सभी से—यहाँ तक कि धर्म-गुरुओं से भी कोरनिश की आज्ञा की जाने लगी । दिल्ली के बहुत-से धर्म-गुरु इस प्रथा को मानने के लिए तैयार हो गये । लेकिन मेरे पूर्वज शेख मुहम्मद राजी न हुए । उन्होंने कहा कि इस प्रकार के सम्मान का अधिकारी केवल ईश्वर ही है, कोई राजा नहीं । आप जानते हैं कि, शेख जमालुद्दीन तो ऐसे कृत्य के भयंकर परिणाम से बच गये थे, लेकिन, शेख मुहम्मद न बच सके । उन्हें बग़ाल के सामने घुटने न टेकने के ज़ुर्म में ४ साल की सज़ा मिली और वे ग्वालियर के किले में बन्द कर दिये गये ।”

“पीढ़ियों तक”, मौलाना ने आगे कहा, “एक तरह की वंश परम्परा बन गई थी कि न कोई ओहदा स्वीकार किया जाय न अधिकार का पद । बाद में, एक पितामह शेख सिराजुद्दीन ने प्रचान न्यायाधीश का पद स्वीकार कर लिया और तभी से—कह सकते हैं—वह परम्परा टूटी ।

जिन्होंने उनका अनुसरण किया उन्होंने पदग्रहण करना शुरू कर दिया । मुगल सम्राट द्वारा नियुक्त मेरे दादा अन्तिम व्यक्ति थे जिन्होंने 'रक्त-उल-मुदर्रस्सीन (ज्ञान के स्तम्भ) का पद स्वीकार किया था ।”

इस प्रकार कहा जा सकता है कि, प्रतिष्ठित परिवार और ज्ञान की महत्ता मौलाना साहब के रक्त में समाई हुई है और इसका उन्हें उचित गर्व है । वास्तव में एक बात में तो वे अपने महिमामय पूर्वजों से भी आगे बढ़ गए हैं । वे महान् मस्तिष्क और प्रतिभा के धनी हैं । इसमें उनसे आगे बढ़ना तो दूर, कोई उनकी बराबरी भी नहीं कर सकता । अपने पूर्वजों और यहां तक कि अपने पिता की भांति उन्होंने भी अपने शिष्यों का समुदाय नहीं बढ़ाया । अकेले एकान्त में पुस्तकों के अन्दर डूबे रहना उन्हें पसन्द है । वे इसी में प्रसन्न हैं कि, वे स्वयं अपने ही विद्यार्थी और अपने ही शिष्य हैं । इस आत्म-केंद्रित रहने को दम्भ समझना भारी भूल है ।

: ३ :

माता-पिता और बचपन .

मौलाना के पिता मुहम्मद खैरुद्दीन ने अपने प्राचीन पूर्वज शेख जमासुद्दीन की परम्परा का जीवन भर अनुसरण किया। वे भी उन्हीं की भांति विद्वान् धर्म-गुरु और सूफ़ी थे। उन्होंने अरबी और फारसी में अनेक ग्रंथ लिखे हैं लेकिन, उनका जीवन और स्वभाव अधिकतर समय और सादगी से रंगा हुआ था और वे सूफ़ियों के चिन्तन और अध्ययन में ही रत रहते थे। उनके न केवल दिल्ली में ही बल्कि पश्चिम में गुजरात, काठियावाड़ और बम्बई तथा पूर्व में कलकत्ते में हजारों अनुयायी थे।

वे चाहते तो दिल्ली में ही अपना पवित्र और अध्ययनशील जीवन बिता सकते थे और अपने पूर्वजों के सम्मानित पेशे को अपना सकते थे। लेकिन, उन दिनों धर्मात्मा लोग भी शान्ति से नहीं रह सकते थे। उन्हें भी परेशान किया जाता था। सन् १८५७ में दिल्ली के पतन के बाद शहर में क्या हुआ यह ब्रिटिश सेना के इतिहास में एक भारी कलक की वस्तु है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्रोहियों ने उपद्रव किया और हिंसा से काम किया। लेकिन जिन्होंने उस विद्रोह को दबाया और उसपर विजय पाई वे हिंसा में उनसे कुछ कदम आगेही बढे थे। माण्ट गुमरी मार्टिन ने लिखा है, "हमारे सैनिकों ने शहर में दाखिल होने पर शहर के भीतर जो भी लोग मिले उन सबको जहा-का-तहा संगीनों का शिकार बना दिया। जब कि मे हर घर में ४०-५० आदमियों के छिपने की बात कहता हूं तब आप अन्दाज़ लगा सकते हैं कि कितने आदमी कत्ल हुए होंगे। ये विद्रोही न थे। किन्तु शहर के निवासी थे। क्षमादान के लिए हमारे सुप्रसिद्ध उदार शासन में इनकी श्रद्धा थी। मृत्ते यह कहते हुए

हर्ष होता है कि उन्हें निराश होना पड़ा। दयायाचना के लिए हाथ जोड़े खड़े नीरीह नागरिकों को गोलियों से उड़ा दिया गया। लड़खड़ाते हुए बूढ़े आदमियों को गाजर-मूली की तरह काट दिया गया.....दिल्ली के लोगों को विद्रोहियों के अपराध से कई गुना अधिक दण्ड का भुगतान करना पड़ा। लाखों निरपराध आदमी और औरते तथा बच्चे बेघर-बार होकर मुल्क की लाक छानते हुए भटकने लगे। जो कुछ पीछे रह गया, उससे उन्हें हमेशा के लिए हाथ धोने पड़े। कारण, सैनिक हर घर और हर सड़क को टटोलते रहे और जो भी बहुमूल्य वस्तु हाथ लगी उसे ही उठा ले गये। 'जिन वस्तुओं को वे लेजा न सके उन्हें तोड़-फोड़ कर बर-बाद कर दिया।' (होम्स) सी.एफ.एण्ड्रूज ने जकाउल्ला के रेखा चित्र में लिखा है कि, किस प्रकार निर्दोष होते हुए भी उस साधु पुरुष के परिवार को यातनाएँ सहनी पड़ी और किस प्रकार सर सैय्यद अहमद खा को, जिन्होंने उन दिनों किसी भी अकेले आदमी से अधिक अग्नेजों की सहायता की थी, दिल्ली पहुँचने पर मालूम हुआ कि उनके चचाका कत्ल होगया है और उनकी माँ नौकर के घर में जान बचाने के लिए छिपी हुई है। मौलाना के पिता भी उन हथारों जान लेकर भागने वालों में थे। उन्होंने भी क्षुब्ध देश को छोड़ कर मक्का के लिए प्रस्थान किया। विद्रोह के दबते ही उन्होंने इसी इरादे से दिल्ली छोड़ी और वे रामपुर चले गये। रामपुर के नवाब यूसुफ अली खा थे। उन्होंने अग्नेजों का साथ दिया था। नवाब यूसुफ अली खा इनके अनुयायी थे। उन्होंने मौलाना के पिता के लिए बम्बई और बम्बई से मक्का तक बिना खटके पहुँचने का हस्तक्षाम कर दिया।

टर्की में उस समय सुलतान अब्दुल मजीद का जमाना था। उसने मौलाना की बिद्वत्ता के बारे में सुन रक्खा था। उसने मौलाना को कुस्तुनतुनिया आने का निमंत्रण दिया। प्रसन्नता की बात है कि सुलतान की उदारता से मौलाना के बहुत से ग्रन्थकारिहारा से प्रकाशित हुए। कुस्तुनतुनिया से लौटने पर उन्होंने मक्का की सुप्रसिद्ध नहर आइन-जुबेदा को खोदने के लिए चन्दा इकट्ठा करने में सहायता दी। इस नहर को बनाने में ११ लाख रुपये खर्च हुआ जो उन्होंने अपने हिन्दुस्तान के और बाहर के अनुयायी तथा मित्रों से चन्दे के रूप में इकट्ठा किया।

वहीं उन्होंने मक्का के एक श्रेष्ठ विद्वान् और धर्मगुरु शेख मुहम्मद जहीर बेन्तो की सुपुत्री से शादी की। इसी महिला के गर्भ से सन् १८८८ में हमारे चरित-नायक का जन्म हुआ। इस प्रकार न केवल पिता के वरन् माता के वश से भी इन्हें विद्वत्ता की विरासत मिली। दोनों ही परिवार महान् शेख समुदाय के हैं।

जब मौलाना खैरुद्दीन मक्का को लौटे तो काठियावाड के हज को आये हुए बहुत से मसलमान, जो इनके अनुयायी थे, इनसे प्रार्थना करने लगे कि वे अपने शिष्यों की भलाई के लिए फिर 'हिन्दुस्तान लौट चले। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर वे सन् '८० में बम्बई आये। सन् '८० और '९२ के बीच उन्होंने अनेक बार मक्का की यात्रा की होगी।

सन् १८९८ तक बालक का बचपन अरब में ही बीता। इसके बाद पिता के अनुयायी हाजी अब्दुल वहीद के आग्रह से उनका परिवार कलकत्ते आया और वही बस गया।

मौलाना की मातृभाषा अरबी थी। क्योंकि उनकी माता और कोई भाषा न जानती थी। लेकिन, अपने पिता से उन्होंने उर्दू सीखी और इसीलिए जब उनके पिता कलकत्ते आये तब उन्हें दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। यहाँ उन्हें किसी पाठशाला में नहीं भेजा गया। उन्होंने अपने पिता और पिता के शिष्य एक अरबी विद्वान् से पढ़ना शुरू किया। पढ़ने में उनका प्रगति आश्चर्यजनक रही। 'दर्से-निजामी' अरबी और फारसी में भाषा, दर्शन, तर्क, गणित, भूगोल और इतिहास का एक सम्पूर्ण पाठ्यक्रम है। इस सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को समाप्त करने में अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थी को दस साल और साधारण विद्यार्थी को चौदह साल लगते हैं। अबुलकलाम ने सिर्फ चार साल में ही इस पाठ्यक्रम को समाप्त किया। हा, हिन्दुस्तान आने के पहले अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान होने की सुविधा अवश्य थी। और इन्होंने आते ही अपनी विद्या दूसरों को भी सिखाना शुरू कर दिया। इस पाठ्यक्रम का एक अंग यह भी होता है कि छात्र अध्यापन कार्य में भी प्रवीणता प्राप्त करले। इस पाठ्यक्रम की पूर्ण समाप्ति तबतक नहीं समझी जाती और न तबतक आलिम का प्रमाण पत्र ही मिलता है जबतक छात्र उस पाठ्यक्रम को पढ़ाने की क्षमता प्राप्त न करले। इस प्रकार अबुलकलाम अपनी

बीसह वर्ष की अवस्था में ही छात्राध्यापक बन चुके थे। उन्होंने उन दिनों का एक बड़ा मजेदार किस्सा सुनाया। उन्होंने कहा मेरे विद्यार्थियों में एक खासी लम्बी दाढ़ी वाले बुजुर्ग पठान थे। बेचारे कुछ मंद-बुद्धि के थे। पढ़ाई में उनकी धीमी रफ्तार को बर्दाश्त करने का मुझमें संयम न था। बहुत दिनतक मैंने उनके दिमाग में तर्क की कयाम (आगमन) और इसाक्रा (निगमन) प्रणाली-भेद को घुसाने की कोशिश की। मैंने बताया एक की दलील सामान्य से विशेष की ओर; और दूसरी की इसके बिलकुल विशेष से सामान्य की ओर चलती है। और यह भी बताया कि, कयास (आगमन) में दलील को ऊपर से नीचे की ओर लाया जाता है और इसाक्रा में नीचे से ऊपर की ओर। मैं समझता था कि याद करने का यह सबसे अच्छा तरीका था। दूसरे दिन मैंने उस छात्र से भेद समझाने के लिए कहा। उसने सबका-सब उल्टा बताया। मैं अपना गुस्सा न रोक सका और यह कहते हुए पुस्तक उसके मुंह पर फेंक कर मारी कि, 'तुमसे यह कभी याद न होगा, तुमतो घर जाओ और घास चरो'। वह बड़्ढा पठान कुछ न बोला और उसने सारे दिन भोजन भी न किया। जब यह बात मेरे पिता तक पहुंची तो वे गुस्से से आग-बबूला होगये। उन्होंने फौरन मुझे बुलाया और डपट कर कहा, 'तुझे अपनी करतूत पर शर्म नहीं आती। देखता नहीं, वे उम्र में तेरे बाप के बराबर हैं। जा, और फौरन उनसे माफी माग और विनय कर कि वे भोजन करलें'। उस बड़्ढे पठान का व्यवहार ऐसा था मानों कुछ हुआ ही नहीं। उसने कहा, आप तो मेरे गुरु हैं। गुरु के नाते मुझको सजा देने का आपको पूरा अधिकार है। इसमें माफी की कौनसी बात है। इस घटना ने मुझे और भी लज्जित कर दिया और मैं उसके पास से तबतक न हटा जबतक मैंने उसे भोजन न करा दिया।

— शैशवावस्था में उनके चारित्रिक गठन पर उनके पिता का ही विशेष प्रभाव पड़ा और यह कहा जा सकता है कि उनमें अपने पिता की बहुत-सी आदतें और स्वाभाविक विशेषताएं ज्यों-की-त्यों आ गईं। "मेरे पिता को एकान्त में रहना ही अधिक पसंद था। उनके हजारों शिष्य थे जो उनसे मिलने आया करते थे। लेकिन मैंने उन्हें कभी किसी से स्वयं जाकर मिलते नहीं देखा। वे केवल मौजूद शरीफ के दिन (पैगम्बर का

जन्म दिन) या ईद के अवसर पर मिलने के लिए बाहर जाते थे। इन अवसरों पर भी वे केवल अपने एक ही शिष्य से मिलते थे। घर में हर बात में पूरी सादगी बरती जाती थी। आधुनिकता से उन्हें चिढ़ थी। घर में मेज-कुर्सी की जगह एक चटाई पड़ी रहती थी जिसपर अमीर-से-अमीर और गरीब-से-गरीब अतिथि को बिठाया जाता था। इनमें बहुत से नवाब थे, टीपू सुल्तान के सुपुत्र भी। उनके जीवन की भांति उनके वस्त्र भी सादा होते थे। मैंने उन्हें कभी बटनदार कोट पहनते नहीं देखा। आधुनिक सभ्यता की गंध से भी उन्हें भय था और इसी लिए हम बच्चों को अंग्रेजी-शिक्षा देने की बात उनके मस्तिष्क में नहीं समाती थी। सर सैयद अहमद खां ने रूढ़िवाद के खिलाफ बगावत का झण्डा उठाया था और उन्होंने मुसलिम सम्प्रदाय से जोरदार अपील की थी कि वह अंग्रेजी और आधुनिक विज्ञान सीखे। मेरे पिता यह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने मुझे और मेरे भाई को प्राचीन ढंग से शिक्षा पाने के लिए बाध्य किया। तब भी उनकी इच्छा थी कि मैं श्रेष्ठतम विद्वानों में समझा जाऊं। इसलिए उन्होंने सन् १९०५ में मुझे काहिरा के प्रसिद्ध अल-अज़हर विश्वविद्यालय में अरबी की उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने खर्च से मिस्र भेजा। मैं वहां दो वर्ष तक रहा और सन् १९०७ में हिन्दुस्तान लौट आया। सन् १९०९ में जब मेरे पिता की मृत्यु हो गई तब एक दोस्त के कहने से व्याकरण और शब्द-कोष की सहायता से मैंने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया। “लेकिन”, मीलाना ने आगे कहा, “मुझे इस बात का खेद नहीं है कि मेरे पिता ने मुझे अंग्रेजी स्कूल में नहीं भेजा। इससे मेरी कोई हानि नहीं हुई और मैं समझता हूं कि जितनी अंग्रेजी की मुझे जरूरत थी उतनी स्वयं अपने प्रयत्न से सीखने से मुझे अत्यधिक लाभ हुआ। ऐसा करके मैंने अपना बहुत सा समय और शक्ति बचा ली। और आवश्यक बातें ही सीखीं।”

जैसा कि मैंने पहले कहा है, मीलाना के पिता के हजारों शिष्य थे जिनमें हिन्दू भी पर्याप्त मात्रा में थे। वे उनके सभी प्रकार के प्रश्नों का उसी प्रेम और सद्भावना से उत्तर देते थे जिससे अपने मुसलमान शिष्यों के प्रश्नों का। इस प्रकार यदि उनका पुत्र हिन्दू-मुसलिम एकता का जब-रदरत हिमायती बन गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

साहित्यिक-प्रतिभा

यद्यपि तरुण प्रबुद्ध कलाम आजाद ने अपने पिता से एकान्त-प्रियता ग्रहण की थी, लेकिन, सच्ची विद्याओं में ज्ञान प्राप्त करने की वतुष्ट लालसा ने उन्हें वैसा जीवन नहीं बिताने दिया । उन्होंने पुस्तकों और समाचार पत्रों द्वारा तत्कालिक वास्तविकताओं में विश्वस्पर्शी लेकर वास्तव जगत से सम्पर्क स्थापित कर लिया । वे पैदावशी लेखक और पत्रकार प्रतीत होते हैं । यावस्था में पढ़ने के पहले ही वे किताबें ही पत्रों का सम्पादन कर चुके थे । 'लिसानुस सिद्ध' (सत्य की पुकार) इस विद्या में उनका पहला कदम था । इस समय उनकी उम्र मुश्किल से बीस वर्ष की थी । कोई भी विषय उन्हें अपनी सज्ज के बाहर नहीं बिसाई देता था । और किसी मामले में वे कटु सत्य कहने से नहीं झिझकते थे । वे प्रत्येक विषय पर अपनी निर्भीक सम्मति देते थे और विख्यात लेखकों की पुस्तकों की आलोचना करने में भी संकोच न करते थे । इस प्रकार एक बार उन्होंने उर्दू के बंगीर विद्वान् और कवि स्वाजा अलताफ़ हुसैन हासी द्वारा लिखित 'सर सैय्यद ख़ुमदसां की जीवनी' की समालोचना की थी । इसने बहुत से लोगों का ध्यान आकर्षित किया लेकिन तब तक प्रत्यक्ष रूप से इस उदीयमान लेखक और पत्रकार को कोई भी नहीं जानता था ।

कहा जाता है कि, उसी समय उन्हें एक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया । इसके पहले वे छोटी-मोटी सभाओं और साहित्य-मोष्ठियों में बोस चुके थे । लेकिन, लाहौर के जुने हुए श्रोताओं की समा में भाषण देने के लिए निबंधन उनके लिए एक अभूतपूर्व अवसर था । लाहौर में अंजुमन-ए-हिम्मत-ए-इस्लाम नाम की

एक संस्था है। उसने प्रसिद्ध पत्र 'लिसानुस सिद्क' के सम्पादक को बिना यह जाने हुए कि वह कौन है, १९०४ अगस्त में वार्षिक अधिवेशन पर भाषण देने के लिए निमंत्रित किया था। सभा में महाकवि हाली—उस कृति के लेखक—जिसका उल्लेख पिछले अनुच्छेद में किया गया है, महान गद्य लेखक नाजिर अहमद, तेजस्वी कवि शेख मुहम्मद इक़बाल और अन्य कितने ही प्रसिद्ध साहित्यिक मौजूद थे। व्याख्यान का विषय था—“धर्म का बुद्धि-संगत आधार।” यह कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था कि, एक पंद्रह-सोलह साल का लड़का पण्डितों की सभा में; और ऐसे गूढ़ विषय पर बोलने का दुःसाहस करेगा। जब वक्ता का परिचय दिया गया तो कवि हाली, जिनकी पुस्तक की समालोचना वक्ता ने की थी, सोचने लगे कि यह लड़का मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का पुत्र होगा। जब उन्हें मालूम हुआ कि यह लड़का स्वयं 'लिसानुस सिद्क' के सम्पादक मौलाना के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। भाषण सुन कर तो वे और भी आश्चर्यचकित हुए। उसी दिन इस लड़के ने मुसलिम बुद्धि-जीवियों में मुसलिम भारत के एक होनहार व्यक्ति के रूप में नाम पैदा कर लिया। कवि हाली ने प्रशंसा करते हुए उन्हें “तरुण कवियों पर वृद्ध-मस्तिष्क” कहकर सम्बोधित किया।

इसके पहले, चौदह वर्ष की उम्र में वे सफलता पूर्वक कविताएं भी लिख चुके थे और 'नैरंगे आलम' नाम का पत्र भी निकाल चुके थे जिसमें उदीयमान उर्दू कवियों की कविताएं प्रकाशित हुआ करती थीं। यह पत्र के लिए केवल कविताएं ही नहीं लिखा करते थे, बल्कि मुशायरों में भी हिस्सा लिया करते थे। गार्डन रीच के पास एक स्थान में ये कवि—उदीयमान और विकसित—मिला करते थे और मनोरंजक काव्य प्रतियोगिता में भाग लिया करते थे। समस्याएं पहले से बता दी जाती थी और कवियों को उनकी पूर्ति के लिए आदेश दिया जाता था। हमारे तरुण-कवि नित्य प्रति ऐसी प्रतियोगिता में भाग लिया करते थे और नित्य ही विजय-मुकुट से शोभित होकर घर आया करते थे। महाकवि गालिब के शिष्य, आयु और विद्वत्ता में परिपक्व नादिर-खा को विश्वास नहीं होता था कि यह छोटा-सा लड़का स्वयं कविताएं लिखता होगा। उनकी यह निश्चित धारणा थी कि अवश्य ही यह

लड़का या तो कविता की चोरी करता होगा या किसी का पिटू बनकर आता होगा जो इसे बिना ही गुण के आगे लाभा चाहता है। एक दिन हमारे तरुण कवि एक पुस्तकों की दुकान में कुछ पुस्तकें ढूँढ़ रहे थे कि नादिरखा भी उधर से निकले। उन्होंने युवक को सम्बोधित करते हुए कहा 'बयो, तुम तो हमारे मुशायरों में समस्याओं की पूर्ति-पर-पूर्ति करते चले जाते हो, लेकिन मैं यह कैसे समझूँ कि ये रचनाएँ तुम्हारी ही लिखी होती हैं। मेरा खयाल है कि तुम किसी दूसरे से लिखवा कर लाते हो और अपने नाम से हम लोगों को सुना देते हो। लेकिन, आओ, मैं अभी तुम्हारी परीक्षा लेता हूँ। यह "तरह" (समस्या) है 'याद न हो, शाद न हो, आबाद न हो, इसकी पूर्ति करो। तरुण कवि को बड़ा क्रोध आया; लेकिन, अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के कारण वे क्रोध को पी गये और शीघ्र समस्या की पूर्ति में छंद-पर-छंद बनाते चले गये। इनकी प्रतिभा पर नादिरखा लट्टू हो गये और अपनी बुजुर्गी का कोई खयाल न कर आनंद विभोर हो गये और प्रसन्न होकर कहते चले गये 'सुभान अल्ला' 'सुभान अल्ला।' और वह भी दुकान के सामने और भरे हुए बाजार में। वयोवृद्ध नादिरखा ने स्वीकार किया कि वह उनके परिचित बहुत से कवियों से अच्छा है। यहां यह उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा कि 'आज़ाद' तरुण कवि का उपनाम है जो उनके नाम के साथ तभी से चला आ रहा है।

लेकिन, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद इस सहज-प्राप्त प्रशंसा से सन्तुष्ट होने वाले न थे। कविता के पत्र और साहित्यिक आलोचना तो मनोरंजन की वस्तुएं थीं। इनमें अपनी समस्त शक्ति लगाना व्यर्थ था। जिज्ञासा के अंकुर प्रस्फुटित होकर बढ़ चले थे। आत्मपरीक्षण के भाव जागृत हो चुके थे और वे अपने मन से पूछने लग गये थे कि वे किधर जा रहे हैं। १९०५-७ में इराक, सीरिया और मिस्र के भ्रमण ने उनकी इस भावना को और भी तीव्र बना दिया था। वहां से लौटने पर उन्होंने देखा कि, बंगाल अशान्ति की भट्टी में जल रहा है। वहां नये-नये नारे बुलन्द हो रहे हैं। और अधिकारियों की अवहेलना की तैयारियां हो रही हैं। बंगाल का विभाजन हो चुका था और अबुलकलाम को तबतक शान्ति नहीं मिल सकती थी जबतक उनका तरुण हृदय उस आंदोलन

में, जा पूरे जोर पर था, योग न देता। अबुलकलाम उन दिनों के कुछ भ्राजकवादियों और आतंकवादियों से मिले। और सचबात तो यह थी कि, उनका झुकाव भी इन्हीं लोगों की ओर था। वे आतंकवाद में कहां तक घुस चुके थे; यह तो मैंने उनसे पूछा नहीं। लेकिन, इतना अवश्य है कि, वे संदेह के केन्द्र के बन चुके थे और खुफिया पुलिस उनकी निगरानी करने लग गई थी।

लेकिन उनके दिल में जो सबसे जबरदस्त आंधी उठ रही थी, वह थी इस्लाम के भविष्य और अपने सहधर्मियों की भलाई के साधनों और उपायों की खोज की। सर सैय्यद अहमद खा के लेखों का उनके ऊपर सर्वप्रथम प्रभाव यह पड़ा कि, उनके हृदय में अपने सम्प्रदाय की सेवा करने की भावना तथा अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाने की इच्छा जागृत हुई। उन लेखों से उन्हें वर्तमान विचारधाराओं के अध्ययन और तत्कालीन घटनाओं के विषय में अपना स्वतन्त्र मत बनाने में भी सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपने पूर्वजों से मानसिक और आध्यात्मिक ज्ञान विरासत में मिला था। लेकिन, क्या वह आत्मा की प्यास को बुझाने के लिए पर्याप्त था? अब, प्राचीन कट्टरता संकुचित-सी दीखने लगी और उससे ईश्वर के प्रति विश्वास और स्वीकृत सिद्धांतों को भारी धक्का लगा। जैसे-जैसे वे सुनते और अध्ययन करते थे वैसे-ही-वैसे उनके हृदय में शकाएं उठती जाती थीं। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि जिसे उन्होंने साखा और माना वह क्षण भर के लिए असत्य प्रतीत होने लगा। उन्होंने कुरान का फिर अध्ययन किया, नये सिरों से उसके उपदेशों की जांच की और अपने निर्विकार चिन्तन के द्वारा उनका विश्वास पुनर्जागृत हुआ। अपने जीवन को समाप्त करने के जो विचार क्षण भर को उनके हृदय में आये थे वे भट्टे स्वप्न की तरह विलीन हो गये और सेवा तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन की नई भावना का जन्म हुआ। पुरानी धार्मिक कट्टरता तो दूर होगई; लेकिन उसकी जगह नये विश्वास ने ले ली। यह नया विश्वास उनके मस्तिष्क की शंकाओं और संदेहों पर नई भावना की विजय के परिणाम स्वरूप आया था। सुधार की तीव्र भावना और क्रान्तिकारी विचारों का जन्म हुआ। वह महान पिता, जिसने उन्हें विदेश में उच्च-शिक्षा के लिए भेजा था, स्वर्गीय हो चके

ये । अपने पिता द्वारा रखी हुई प्राचीनता की नींव पर आधुनिकता का महल खड़ा करने के लिए बेटा स्वतन्त्र था। जिस दिशा में पुत्र की मानसिक शक्ति कार्य करने जा रही थी उसे पिता अच्छा समझते या नहीं, यह कहना कठिन है और शायद इसका अनुमान लगाना भी व्यर्थ होगा ।

इस सम्बन्ध में उनके कुरान के अनुवाद की भूमिका के अन्तिम अनुच्छेद को उद्धृत किया जा सकता है । इससे हमें उनकी विचार प्रणाली की भांकी मिलती है और उनकी गम्भीर शैली का उल्लेखनीय उदाहरण भी देखने को मिलता है —

“विद्वानों और आलोचकों की यह नीति बन गई है कि वे आधुनिकता का प्राचीनता से अलग करके देखते हैं । मैं इस भेद को नहीं मानता । प्राचीनता मुझे अपने पूर्वजों से विरासत के रूप में मिली और जहाँ तक आधुनिकता का सम्बन्ध है मैंने अपना मार्ग स्वयं बनाया है । नवान विचार-धाराओं से मैं उतना ही परिचित हूँ जितना कि, प्राचीन विचार धाराओं से ।

मैं जितना मस्त हूँ, उतना ही सात्विक भी हूँ,

मेरी दृष्टि में दोनों एक और अभिन्न हैं ।

“आरम्भ से ही मैं परिवार, शिक्षा और वातावरण की विरासत से असन्तुष्ट रहा । कट्टरता के बंधन मुझे किसी प्रकार रोक न सके । और जिज्ञासा की वृत्ति ने मुझे जीवन के किसी क्षेत्र में बढ़ने में बाधा न डाली ।

ज्ञान का कोई भी कोना खाली न था,

फिर भी मैं ज्ञान की खोज में भटकता रहा,

मेरा भण्डार भरा हुआ था, लेकिन मेरा संवय पूर्ववत् चलता रहा ।

“मेरा ऐसा कोई विश्वास नहीं है, जिसने शकाओ का कटकित पथ पार न किया हो । मेरा कोई आध्यात्मिक विश्वास भी ऐसा नहीं है जो अविश्वास के भंवरो से न गुजरा हो । मैंने हर विष-कलश से विष-पान किया है और उस विष से मुक्त होने के लिए विज्ञान द्वारा बताये उचित उपचार का भी प्रयत्न किया है । जब मैं प्यासा था तब मेरी प्यास औरों के समान न थी, और जब वह शान्त हुई तो भी मामूली भरनों से नहीं ।

जीवन स्रोत तक पहुँचने का खिज़र का मार्ग लम्बा और कठिन था, मैंने अपनी प्यास दूसरे स्रोत से बुझाई ।

“अलहिलाल” का जन्म

तरुण मौलाना के हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज पर आगमन का वर्णन करने के पहले, मैं समझता हूँ, मुझे अंग्रेजों की उस नीति का सरसरी तौर से सिंहावलोकन कर देना चाहिये, जिस नीति का हिन्दू और मुसलमानों से सम्बन्ध है। और मुझे यह भी उल्लेख कर देना चाहिये कि जिस समय मौलाना ने राजनैतिक क्षेत्र में कदम रक्खा, उस समय यह नीति कहा तक असर कर चुकी थी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि, सन् १८५७ का विद्रोह एक असंगठित रूप का था और वह उत्तर हिन्दुस्तान से आगे नहीं बढ़ सका था। लेकिन इसी विद्रोह के कारण, कहा जा सकता है कि अंग्रेजों को अपने शासन की नीति को मजबूत करने का अच्छा मौका मिला। यह बात सही है कि इसके पहले, हिन्दू और मुसलमानों के आपस में युद्ध हो चुके थे; लेकिन विद्रोह ने दोनों के सम्प्रदायों को एक सूत्र में बांधने का काम किया था। कारण, दोनों का हेतु-अस्पष्ट होते हुए भी-एक था। बस यही से हमें उस काल के सर बार्टल् फ्रेरी जैसे ब्रिटिश शासकों के उद्धारों में ‘भेद करो और शासन करो’ नीति के प्रारम्भिक सूत्र मिलते हैं। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत तक यह नीति एक तरह ठड़ी ही पड़ी रही। आन्दोलन का शुरू करना ही अंग्रेजों के लिए खतरे की घण्टी साबित हुआ। फिर क्या था ? लार्ड डफरिन ने दुरंगी चालें चलना शुरू किया। एक तरफ उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं से मीठी-मीठी बातें करना शुरू किया और दूसरी तरफ मुसलमानों को घमकाना। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जनक, स्वर्गीय ए००० ह्यूम को बुलाकर समझाया कि वे कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था बनाये। कांग्रेस के प्रतिनिधियों को उन्होंने उद्यान-भोज दिया। लेकिन साथ-साथ वे यह भी

धारणा बनाते गये कि, “हिन्दुस्तान ऐसा देश नहीं है, जहा लोक-तांत्रिक आन्दोलन के नियम बेखटके अमल में लाये जा सके।” उन्होंने सुधारोंकी अपनी रिपोर्ट में लिखा कि “यह बात अवश्य है कि जनता के मुकाबले में—जो देश की असली आबादी है—देश का वह समुदाय, जो पढ़ा-लिखा कहा जाता है अथवा जो यूरोपियन बन चुका है अथवा जो सरकारी नौकरिया पाने की योग्यता प्राप्त कर चुका है—संख्या में बहुत छोटा है; फिर भी यही समुदाय कांग्रेस आन्दोलन का समर्थक है और इसी से उसे सहायता और शक्ति प्रदान होती है। ऐसी हालत में, हम अगर कांग्रेस की महत्ता को गलत समझ कर अपने सर्वोच्च शासन को ढीला करेंगे—तो मेरा पक्का विश्वास है कि हम भारी भूल करेंगे।” इन्होंने ही सबसे पहली बार हिन्दुस्तान का दो विरोधी दलों के रूप में वर्णन किया। उन्होंने कहा “लेकिन, हिन्दुस्तान की विशेषता यह है कि वह दो सम्प्रदायों में विभक्त है। ये दोनों सम्प्रदाय धर्म, निष्ठा, ऐतिहासिक परम्परा, संगठन और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता में एक दूसरे से इतने पृथक् और भिन्न हैं जितने पूर्व और पश्चिम। एक तरफ हिन्दुओं की जन-संख्या १८ करोड़ है, दूसरी तरफ मुसलमानों की ५ करोड़। हिन्दू नाना पथों में विश्वास करते हुए मन्दिरों को देवी-देवताओं की मूर्तियों से सजाते हैं और गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा करते हैं। उनके अन्दर जाति का भेद-भाव बहुत गहरा है और उनकी एक आदत-सी बन गई है कि आने वाले एक के बाद दूसरे विजेता के सामने अपना माथा टेके। इनके बिलकुल विरुद्ध मुसलमान हैं, जो एक ईश्वर को मानते हुए मूर्ति पूजा के कट्टर दुश्मन हैं। पशुबलि और सामाजिक समता में उनका विश्वास है। उनकी अतीत की स्मृति अभी ताजी है कि वे भी दिल्ली के तख्त पर बैठकर हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक शासन करते रहे हैं।” लार्ड डफरिन के शरारत भरे अर्द्ध सत्यो का एक ही अनुच्छेद में समावेश करना कठिन है। लेकिन इतने ही से उनके प्रचार की झलक अवश्य मिलती है। उन्होंने देश के विभिन्न कोनों में वास करने वाले पढ़े-लिखे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार जारी किया और प्रसन्न होकर अपनी रिपोर्ट में लिखा कि अब मुसलमान भी पहले से अधिक सरकार से सहानुभूति करने वाले बन

गये है। कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों के दिलों में विद्वेष फैलाने की चाल-बाजी और जालसाजी भी चलनी रही। सीमाप्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर, सर आक्लण्ड कालवित ने श्रोयुत् ए० ओ० ह्यूम को सलाह दी कि वे मुसलमानों में कांग्रेसके विरुद्ध भड़काने की भावनाएँ भरे। उनके लिए तो कल्पना ही सब कुछ थी।

इसमें कोई सदेह नहीं कि, मुसलमानों के अन्दर कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार कार्य शुरू हो गया था। इस प्रचार कार्य में सर सैय्यद अहमदखा अग्रदूत थे। ये बड़े ही कार्यशील और परिश्रमी पुरुष थे। ये अपने विचारों के इतने पक्के थे कि, जो बात ठान लेते, उसे पूरा ही करके छोड़ते। जब उन्होंने मुसलमानों के अन्दर पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति और विज्ञान का प्रचार आरम्भ किया, तो रूढ़िवादी और धर्मान्ध सहर्षियों का उन्हें काफी विरोध सहना पड़ा। फिरभी उन्होंने ऐसी खूबी से काम किया कि, उन्हें काफी सफलता मिली। वे अपनी इस धुन में इतने तल्लीन रहते थे कि वे क्या कह रहे हैं और क्या नहीं कह रहे हैं, इसकी उन्हें बहुतकम सुध रहती थी और इसी धुन में वे उल्टे सीधे वक्तव्य भी दे बैठते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने अपने (त० १५ अक्तूबर, १८६६) लण्डन से लिखे हुए एक पत्र में कहा—अंग्रेजों की अनुचित प्रशंसा किये बिना ही, मैं सच कहता हूँ कि, भारत के निवासी—चाहे वे अमीर हो या गरीब, बड़े व्यापारी हो या छोटे दुकानदार, शिक्षित हों या अशिक्षित, चाल-ढाल और ईमानदारी में ऐसे जचते हैं जैसे भद्रपुरुषों के सामने गधे पशु।” हम लोगों को पालतू जानवर समझने के लिए अंग्रेजों के पास काफ़ा सुबूत हैं। इसमें कोई सदेह नहीं कि पाश्चात्य सुख-समृद्धि की चमक-दमक तथा अंग्रेजी महिलाओं की शिक्षा-स्वतंत्रता ने उन्हें चौंका दिया था। उन्होंने आगे लिखा “मैं जो देख रहा हूँ और प्रतिदिन देखता आ रहा हूँ, उसकी भारत-निवासी कल्पना भी नहीं कर सकते। मुसलिम सम्प्रदाय आत्मगौरव की प्रसन्नता की खतरनाक चादर में लिपटा पड़ा है। वह अपने पूर्वजों की याद करता है और समझता है कि, उसके समान कोई है ही नहीं। उसको चाहिये कि वह मिस्र और तुर्की के मुसलमानों की तरफ देखे, जो दिन-पर-दिन सभ्य और भद्र होते जा रहे हैं। जबतक तुर्की और मिस्र के समान भारतीय मुसलिम समुदाय की

उन्नति न की जायगी तबतक उसका प्रतिष्ठित होना असंभव है। जिन्होंने हिन्दुस्तान को सुधारने का और उसे प्रतिष्ठित बनाने का सकल्प किया है, उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिये कि, यह काम तभी सफल हो सकेगा, जब समस्त कला और विज्ञान की पुस्तकों का देशी भाषाओं में अनुवाद होगा।” इसी उद्देश्य की धुन में उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के गीत गा-गाकर हिन्दुस्तान का कोना-कोना छान डाला। अन्त में उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में अलीगढ़ में सन् १८८० में एंग्लोमोरिण्टल काबेज की स्थापना के रूप में सफलता मिली, जो आगे चलकर विश्वविद्यालय बन गया। उन्होंने अध्यापकों को इंग्लैण्ड से बुलवाया और कालेज को यथा-शक्ति पाश्चात्यरूप देने का प्रयत्न किया।

लेकिन, उन्होंने जहाँ एक तरफ मुसलमानों के दिलों में यह अनुकूल कान्ति पैदा की, वहाँ दूसरी तरफ, बड़े परिश्रमके साथ उन्हें राज-भक्ति की तरफ भी मोड़ा। इनके बारे में सर वेल्लेण्टाइन चिरोल ने ने कहा है—“उन्हें अपने उच्च आदर्शों के प्रति निष्ठा थी, जिसकी उन्हें ऐसी धुन स्वार रहती थी कि, वे उनकी मिसालें अपने विद्यार्थियों के सामने उपस्थित किया करते थे। राजभक्ति तो उनके लिए एक पर्यायवाची शब्द था।” हिन्दुस्तान के प्रगतिशील मुसलमानों पर सर सैय्यद अहम खा का ऐसा असर पड़ा कि सन् १९०५ में अखिल भारतीय मुसलिम लीग की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई कि, राष्ट्रीय महासभा की बढ़ने वाली ध्वसात्मक हलचलों का विरोध किया जाय।” उन्होंने दिसम्बर सन् १८८८ के अपने पत्र में मेजर जनरल ग्राहम को लिखा कि “तथाकथित राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध उन्होंने एक विकट कार्य को हाथ में लिया है और भारतीय संयुक्त संस्था की स्थापना की है। इस संस्था का कार्य और कार्यों से अधिक महत्त्व का है।” इस संस्था के सदस्य राजा-महाराजा, और जमींदार थे। इन सदस्यों ने सरकार के पास आवेदन-पत्र भेजकर विश्वास दिलाया कि उनकी संस्था कांग्रेस के राज-नैतिक उद्देश्य और कार्य-क्रम के विरुद्ध है। जिस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसी समय दूसरी तरफ मुसलमानों को कांग्रेस से अपनी तरफ खींचने की गरज से मुसलिम शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। सर सैय्यद अहमद खा के लिए तो कांग्रेस का

विरोध करना और सरकार का समर्थन करना नारा था। इसी समय से जो इस नारे के समर्थक थे, वे अलीगढ़-विचार पक्षवाले कहलाने लगे। सर सैय्यद शायद उस समय कांग्रेस को हिन्दू-संस्था कहकर उससे घृणा नहीं करते थे। लेकिन, उन्हें आशंका थी कि अगर मुसलमान कांग्रेस के राजनैतिक सम्पर्क में आगये, तो उनका समस्त जीवन-कार्य धूल में मिल जायगा। अंग्रेजोंको अपनी “भेदकरो और शासन करो” नीति को आगे बढाने के लिए अलीगढ़ विचारावृत्तियों के अनुयायियों के रूप में अच्छा साधन हाथ लगा। यह साधन इतना कारगर साबित हुआ कि, लार्ड मिण्टो ने इन्हे “ताल पर नचाया” (मौलाना मोहम्मद अली के शब्द)। ‘ताल पर नाचने’ के लिए आगाखा के नेतृत्व में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग पर जोर देने के उद्देश्य से एक प्रतिनिधि मण्डल लार्ड मिण्टो से मिला। सर वेलेण्टाइन चिरोल ने इस अवसर का वर्णन करते हुए कहा है “आगाखा के नेतृत्व में इस प्रभावशाली प्रतिनिधि-मण्डल की लार्ड मिण्टों से मिलने की मंशा यह थी कि कांग्रेस के ध्वंसात्मक कार्य का विरोध करके भारत सरकार को बगाल-विभाजन द्वारा पैदा हुई राजनैतिक अवस्था के बारे में मुसलमानों के दृष्टिकोण से अवगत कराया जाय, अन्यथा, यदि जल्दी में आकर हिन्दुओं को सहूलियतें दे दी जायगी तो इन सहूलियतों द्वारा हिन्दू बहुमत के आगे बढने का रास्ता साफ हो जायगा और अंग्रेजी शासन के स्थायित्व को तथा मुसलिम अल्पमत, जो निर्विवाद रूप से अंग्रेजी शासन के प्रति राजभक्त था—के हितों को समान रूप से धक्का लगेगा। फिर से, इसी आशय को लेकर तथा अब लार्ड मिण्टो द्वारा इस अवसर पर आश्वासन पाकर, उन्होंने सन् १९०९ के भारतीय विधान में निर्दिष्ट साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर जोर दिया और वे अपनी इस मांग में सफल रहे।” मौलाना मोहम्मदअली ने इसको ‘ताल पर नाच’ कहकर जो वर्णन किया, वह गलत न था। इसकी सच्चाई लार्ड मॉर्ले द्वारा लार्ड मिण्टो को लिखे हुए निम्नलिखित पत्र से सिद्ध होती है “मैं फिर से मुसलमानों के भगडों में आपका अनुसरण नहीं करूंगा। मैं सिर्फ आपको उनके विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में आपके पहले भाषण का स्मरण कराता हूं, जिसने उनका इस दिशा में हीसला बढ़ाया

है।’ लार्ड मॉर्ले के इस अप्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा इस सम्बन्ध में कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण भी मौजूद हैं। यह प्रमाण मुझे स्वयं मौलाना से मिला है। प्रतिनिधि मण्डल और पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग का उदय स्थान अलीगढ़ नहीं; बल्कि शिमला है। उस समय एंग्लो-ओरिएण्टल कालेज के प्रिंसिपल श्री आर्चिबाल्ड थे। ये महाशय अलीगढ़ और शिमला के बीच श्रृंखला के रूप में काम किया करते थे। ये शिमला गये और लार्ड मिण्टो से मिलने के बाद वापिस लौटने पर, उन्होंने कालेज के अवैतनिक मंत्री नवाब मोहसि-उल-मुल्क को एक प्रतिनिधि मण्डल बनाकर लार्ड मिण्टो से मिलने के लिए तैय्यार किया। आगालां को भारत छोड़ कर इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान किये कुछ ही घण्टे बीते थे, अभी वे अदन भी न पहुँच पाये थे कि, उन्हें वायसराय से मिलने के लिए प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व करने के लिए तार द्वारा वापिस बुलाया गया। वे फौरन लौट पड़े इसके बाद की पूरी कहानी हम स्वयं आर्चिबाल्ड के लेखों में पढ़ सकते हैं। लार्ड मॉर्ले ने तो लार्ड मिण्टो का भाषण मात्र पढ़ा था। लेकिन, गायद वे नहीं जानते थे कि, हिन्दुस्तान के अन्दर परदे की आड़ में क्या हो रहा था।

मौलाना जब मिस्र से लौटे तब हिन्दुस्तान में उनके सहृदयों मुसलमानों की यह हालत थी।

मौलाना के पिता को—जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं—१८५७ के विद्रोह के कटु अनुभव थे। उन्होंने अपने अनुभवों का किस्सा अपने पुत्र को अवश्य सुनाया होगा। १८५७ में प्रतिशोध ने सभी सीमाएं लांघ दी थीं, और बिना शत्रु-मित्र का भेदभाव किये, समान रूप से सबके साथ बर्बरता का बरताव किया गया था। इसके परिणाम स्वरूप इनके पिता तो पश्चिम की हर बात के शत्रु बन गये थे। लेकिन, पुत्र ऐसे न हुए। उनकी दृष्टि में सरसैय्यद अहमदख़ां ने मुसलिम सम्प्रदाय को रूढ़िवादी और धार्मिक शिक्षा के संकुचित दायरे से निकाल कर पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान से लाभ उठाने की आवश्यकता को समझाकर उसकी बड़ी सेवा की थी। लेकिन, उन्हें प्रतीत हुआ—जैसा कि उन दिनों के कुछ मुसलमानों ने अनुभव किया था—कि सरसैय्यद अहमद ख़ां मुसलमानों को राजनीति से अलग रखकर और उन्हें कांग्रेस का विरोधी

बनाकर अन्तजाने ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ का खिलौना बना रहे हैं। उन्होंने यह भी महसूस किया कि, सर सैय्यद अहमद ने एक तरफ समस्त देश के राजनैतिक पुनरुत्थान के रास्ते में रोड़ा अटकाया है और दूसरी तरफ मुसलमानों को ऐसे रास्ते पर ले जाकर उनके दिलों में उदारता, राजनैतिक विशाल दृष्टिकोण और आत्म-सम्मान की भावना के स्थान पर गुलाम-वृत्ति की भावना भर दी है।

सन् १९०८ में मौलाना जब २० वर्ष के थे, तभी से उनके दिल में परिवर्तन होना शुरू हो गया था। परिवर्तन का एक कारण, उस समय की भारत की राजनैतिक अवस्था थी। उनकी गृह-भूमि बंगाल थी जो असंतोष और नव-राजनैतिक चेतना से उबल रही थी। उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तान संसार के सामने एक ही समय दो परस्पर विरोधी चित्र उपस्थित कर रहा है। एक तरफ हिन्दू हैं, जिनके दिलों में देशभक्ति की आग भडक रही है और जो स्वाधीनता के सुखद स्वप्न देख रहे हैं। इन्हें सरकार का कोई दमन दबा नहीं सकता। वे स्वदेश-प्रेम की वेदी पर अपनी तरुणई को बिना किसी सोच विचार के बलि चढ़ा रहे हैं। दूसरी तरफ मुसलमान हैं, जो राजनैतिक सघर्षों से मुह मोड़कर सरकार के हाथ का खिलौना बन रहे हैं और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने पर तुले बैठे हैं। इन परस्पर विरोधी प्रवाहों ने मौलाना को बेचैन बना दिया था। वे इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि, उनके सहघर्मी ऐसा हीन और निन्दनीय पार्ट अदा करें। उन्होंने उनके अन्दर जैसे संभव हो, वैसे, क्रान्तिकारी कार्य करने की ठानी। प्रश्न उपस्थित हुआ कि, यह कार्य किस तरह किया जाय। उन्होंने इस समस्या पर वर्षों तक चिन्तन और मनन किया। उन्हें दो उपाय सूझे जिन पर वे दृढ़ रहे। उन्होंने सोचा, अगर मुसलमानों के अन्दर क्रान्तिकारी परिवर्तन करना हो तो, पहले, अलीगढ़ विचार वाली नीति के विरुद्ध विद्रोह की भावना पैदा की जाय और दूसरे, मुसलमानों के दिलों से ब्रिटिश-शासन के प्रति राजभक्ति-की भावना का उन्मूलन किया जाय जो मुसलमानों के कथित अंग्रेजी मित्रों ने उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

इस तरह थोड़ी-सी प्रारम्भिक तैयारी के बाद, मुसलिम जगत की सेवा के लिए उन्होंने 'अल-हिलाल' (चांद) नाम के एक साप्ताहिक-पत्र

के प्रकाशन की घोषणा की। इस पत्र का पहला अंक पहली जून, १९१२ को प्रकाशित हुआ। इस समय इनकी अवस्था केवल २४ वर्ष की थी। पत्र प्रकाशन के पहले ही मुसलिम जगत उन्हें मौलाना (अपना नेता) मान चुका था। “अलहिलाल” का स्वागत करते हुए, मौलाना मोहम्मद-अली ने अपने साप्ताहिक-पत्र ‘कामरेड’ में इस तरह लिखा था। “हम अच्छी तरह समझते हैं कि, इस साप्ताहिक के प्रकाशन में विद्वान् सम्पादक मौलाना अबुलकलाम आज़ाद को कितना परिश्रम और खर्च उठाना पड़ा होगा। सम्पादक ने पत्र के हर अंक में चित्रों का समावेश करने का निश्चय घोषित करके सम्पादन कला में एक नई बात शुरू की है। आजकल, देश के उर्दू-पत्र वही पुराने ढंग के भट्टे टाइप उपयोग में ला रहे हैं, यद्यपि उसका जमाना बीत चुका लेकिन, मौलाना ने पुराने देश को छोड़कर, तुर्की टाइप का प्रयोग शुरू किया है। यद्यपि यह बात नई नहीं है, फिर भी हमारे लिए एक सतोष की बात है। इस पत्र ने तुर्की, ईरान, मोरक्को तथा सामान्यतः मुसलिम जगत की चर्चा के साथ-साथ साहित्य, विज्ञान और मुसलिम शिक्षा की बहस को स्थायी स्थान दिया है।” वस्तुतः इस टिप्पणी में, पत्र की नीति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस का कारण साफ है। ‘कामरेड’ की उस समय की नीति, अलीगढ़-विचारवालों की नीति थी और जो भी उस विचारधारा को दबाने की महत्वाकांक्षा से उठता, उसे उस पत्र की सहानुभूति से हाथ धोना पड़ता था। लेकिन, तर्षण मौलाना ने, प्रतिकूल परिणामों, और यहाँ तक कि, अपने देशवासियों की नाराजगी की भी परवाह न कर, पत्र के प्रकाशन का साहस किया और दूसरे ही अंक में पत्र के उद्देश्य का स्पष्टीकरण कर दिया। मुझे खेद है कि मैं ‘अलहिलाल’ की पुरानी फाईलो को प्राप्त न कर सका, लेकिन, मौलाना ने ही स्वयं बताया है कि, प्रारम्भिक अंकों ने ही मुसलिम जगत में विस्फोट का काम कर दिया था और उन्हें इस बात पर मनन करने के लिए बाध्य कर दिया था कि, आया उनकी विचारधाराओं में कहीं रोष तो नहीं है। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों के अन्दर उनके दम और अधकार के विरुद्ध सफलतापूर्वक जिहाद किया था, और तर्षण मौलाना ने संकुचित साम्प्रदायिकता और राज-नैतिक प्रतिक्रियावादिता के विरुद्ध संग्राम करने का सकल्प किया।

ढाका-शिक्षा सम्मेलन के बाद, फौरन ही, मुसलमानों को कांग्रेस से अपनी तरफ खींचने के उद्देश्य से मुसलिम-लीग की स्थापना करने की योजनाएं बनाई गईं। इसका स्पष्ट उद्देश्य था कि मुसलमानों में ब्रिटिश-शासन के प्रति राजभक्ति की भावना को और बढ़ाया जाय, तथा उनके हितों के लिए लड़ा जाय। क्योंकि, यह समझा जाता था कि उनके हित हिन्दुओं की राजनैतिक जागृति के कारण गड़बड़ी में पड़ रहे हैं। मुसलिम लीग का संगठन करने में प्रमुख हिस्सा लेनेवाले, अलीगढ़ कालेज के सेक्रेटरी, नवाब मुस्ताकहुसैन ने—मुझे बताया गया है कि—अपने पहले ही भाषण में घोषित किया था कि, इस्लाम की तलवार ब्रिटिश-शासन की सेवा में सदा तैयार रहेगी। मौलाना ने प्रारम्भ से ही इस नीति के विचित्र चलने की प्रतिज्ञा की।

: ६ :

नजरबन्दी

जन्म के कुछ ही हफ्तों के अन्दर 'अलहिलाल' ने अपना असर दिखाना शुरू किया। छः महीने के भीतर उसकी ग्राहक-संख्या ग्यारह हजार तक पहुँच गई। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इसका वार्षिक चन्दा बारह रुपए था और इसके पाठक अधिकतर मुसलमान थे, यह संख्या काफी थी। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि, इससे कुछ राजभक्त और प्रतिक्रियावादी कूप-मण्डुकों में बड़ी खलबली मची, जिसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि, साहबजादा आफताबखा तथा अन्य लोगों को इसके विरुद्ध जोरों का प्रचार शुरू करना पड़ा। प्रचार के कारण कलकत्ता के अन्दर इसकी ग्राहक संख्या कुछ घटी अवश्य, लेकिन इसकी और भी एक वजह थी। क्योंकि, बंगाल के अन्दर बहुत कम पाठक ऐसे थे जो इसकी (अरबी-फारसी मिश्रित) कड़ी उर्दू समझ सकते थे। फिर भी इसका प्रभाव युक्तप्रान्त में बराबर बढ़ता ही गया। जहाँ-तहाँ अख्य-यन मण्डल खुल गये थे और एक-एक जगह बीसियों भादमी इकट्ठा हो-हो कर पत्र को पढ़कर सुनने लग गये थे।

'अलहिलाल' ने अपना राजनैतिक उद्देश्य बिल्कुल छिपाया नहीं, इसके विपरीत उसने सामाजिक और धार्मिक मामलों में भी दृढ़ता से अपना कदम उठाया। सन् १९१३ में अयोध्या के अन्दर गाय काटने के सामान्य मामले को लेकर दंगे-होगये। मौलाना ने समूह के साथ मुसलमानों से कहा कि, गौ-कुशी के अधिकार पर ज़िद करना साम्प्रदायिक शान्ति के विरुद्ध है। उन दिनों इनके विचार कुछ लोगों को इतने अजीब मालूम देते थे कि इनके गहरे मित्र हकीम अजमल खा भी इनके विरुद्ध हो गये थे। हकीम साहब को इनके अन्दर कुछ ऐब दीखने लगा था,

और कई दिनोंतक दोनों में कटुवाद-विवाद भी चलता रहा था। बाद में सन् १९२० में जाकर सहृदय हकीम साहब को अपनी भूल मालूम हुई। तब से वे मौलाना के समान ही उनके पक्के समर्थक बने। मौलाना मोहम्मदअली भी इनके विरोधी आलोचको में एक बड़े आलोचक थे। पत्र का प्रभाव न केवल हिन्दुस्तान में ही फैला, बल्कि उसके अंतर से हिन्दुस्तान के बाहरी देश भी भ्रष्ट होते न रह सके। बाद में युरोपियन घटना-चक्रों ने ऐसा रंग बदला कि, इनके कटु-से-कटु आलोचको को भी इनके द्वारा प्रतिपादित नीति की बुद्धिमत्ता से सहमत होना पड़ा। सर वेलेन्टाइन चिरोल ने उस समय की स्थिति का सक्षिप्त-रूपमें अपने तरीके से वर्णन किया है। यहाँ उनके अपने शब्दों को उद्धृत करना अनुचित न होगा

“तरुण मुसलमानों की एक नई पीढ़ी आगे आ रही थी जो, सर-सैय्यद अहमदखान को भूल चुकी थी और उसकी शिक्षा को अतीत की वस्तु समझ रही थी। पाश्चात्य शिक्षा से जो पाठ उन्होंने सीखा था वह सर सैय्यद अहमद का पाठ न था। उनके विचार हिन्दुओं में फैले हुए अति उग्र विचारों से मिलते-जुलते थे। वे भारतीय राष्ट्रवाद की पूर्णता में, उसकी भीषण-से-भीषण अवस्था में हिन्दुओं का हाथ बटाने के लिए तैयार थे। दूसरी परिस्थितियाँ ऐसी बदल रही थी कि जिनके परिणाम स्वरूप मुसलमानों की निष्ठा न केवल भारत-सरकार के प्रति ढीली होती जा रही थी बल्कि, ब्रिटिश-सरकार की सद्भावनाओं के प्रति थी। कट्टर-से-कट्टर मुसलमान भी सन् १९११ में बंगाल विभाजन के निश्चय को फिर से बदलने के निर्णय से निराश होकर चिढ़ उठा था। कारण, लार्ड कर्जन द्वारा विभाजित पूर्वीय बंगाल के बहुसंख्या वाले मुसलिम प्रान्त को फिर से बहु-संख्या वाले हिन्दू-बंगाल में मिला दिया गया था। अधिक प्रगतिशील मुसलमान क्रिस्तुनतुनिया के राष्ट्रीय जागरण से प्रभावित होकर तुर्की के उन राष्ट्रीय नेताओं से सम्पर्क करना चाहते थे जो उस समय दुनिया में एक बड़ी मुसलिम सत्ता पर आरुढ़ थे। हिन्दुस्तान के प्रगतिशील मुसलमानों ने इन्हीं से अंग्रेजों की वैदेशिक नीति को सीखा और समझा। उन्होंने इस नीति में देखा कि, इसका उद्देश्य जान बूझकर इस्लाम का विरोध करना है। उन्होंने यह भी समझा कि अंग्रेजों ने इस नीति को

इसलिए अपनाया है कि, उन्हें भय है कि, कहीं मुसलिम मुल्कों के स्वतंत्र राष्ट्रवाद की जागृति से इनमें भी नव-जागृति के अंकुर न फूट निकलें। अंग्रेजों की इस्लाम विरोधी नीति के प्रकाश में ही उन्होंने मिस्र पर अंग्रेजों द्वारा कब्जा जमाने को देखा और इसी प्रकाश में उन्होंने मोरक्को के बारे में आंग्ल-फ्रेंच सन्धि और ईरान के बारे में आंग्ल-रूसी समझौते को देखा। इसी प्रकाश में उन्होंने यह भी देखा कि, इटली की त्रिपोली पर चढ़ाई एक ऐसी योजना का क्रमशः विकास है, जिसमें सभी ईसाई शक्तियां इस्लाम के राजकीय अधिकारों का अन्त करने में तुली हुई हैं, जिसका अनिवार्य फल उनके कट्टर धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार इस्लाम के आध्यात्मिक अधिकारों का भी अन्त है। उस्मानिया साम्राज्य जर्मनी के अभयदान के कारण कुछ काल के लिए बचा हुआ था। लेकिन जर्मनी का अभयदान भी स्वार्थ से खाली न था। यूरोपीय गिरोह मुसलिम शासना-रूढ़ जाति से उसकी ईसाई प्रजा के कल्याण के सुधार का खतरनाक तकाजा करते हुए उसके शासन की अवहेलना करने पर तुल हुआ था, जिसका लाजमी नतीजा केवल यह होता कि, पहले से छिन्न-भिन्न मुल-तान के यूरोपीय-राज्य के अन्दर स्वतन्त्र ईसाई राज्यों को और हाथ-पैर फैलाने को प्रोत्साहन मिलता। सन् १९१२-१३ के बाल्कन युद्धों से यह नतीजा निकलता दिखाई दिया कि यूरोपीय महा-पड्यन्त्र 'इस्लामी खड्ग' के विरुद्ध चलाया जा रहा है। ऐसी हालत में जहां सभी श्रेणी और विचारों के भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति स्वभावतः अपने सहधर्मियों तुर्कों के साथ थी, वहां प्रगतिशील भारतीय मुसलिम पार्टी स्वयं भारत में रेडक्रैसेण्ट फण्ड इकट्ठा करके कुस्तुनतुनिया पहुंच गई थी और मुलतान के नाम से किन्तु "संघ और प्रगति की कमेटी" के आदेशों से शासन करनेवाले तुर्की राष्ट्रवादियों से सम्पर्क कायम कर चुकी थी। इस बीच, इस पार्टी ने अखिल भारतीय मुसलिम लीग पर अपना कब्जा जमाकर उसे कांग्रेस के प्रगतिशील पक्ष की बराबरी में लाकर खड़ा कर दिया था।"

मुसलिम-लीग की लण्डन शाखा ने मुसलमानों से अनुरोध किया कि वे हिन्दुओं से मिलजुल कर काम करें तथा विलफ्रिड ब्लण्ट जैसे व्यक्तियों ने अपने भारतीय मुसलिम मित्रों को सलाह दी कि उन्हें संकुचित साम्प्र-दायिक नीति का परित्याग करके भारतीय राष्ट्रीय महासभा के राज-

कीय उद्देश्यों को अपना लेना चाहिए। वस्तुतः मीलाना के दिल में विदेश की स्थिति का इतना महत्त्व नहीं जितना अपने देश का स्थिति। उनके लिए 'राज-भक्ति' का मंत्र एक कड़वी चीज थी, इसीलिए उसकी ओर उन्होंने मुड़ कर भी नहीं देखा। वे सदा राजनीति को विशाल दृष्टि से देखते थे। लेकिन, जहां मुसलमानों के दृष्टिकोण को उग्र बनाने में परिस्थितियां उनका साथ दे रही थी, वहां मीलाना मोहम्मद अली जैसे व्यक्ति मुसलमानों के समान उद्देश्यों को आगे रखकर कांग्रेस से मिलकर काम करने का घोर विरोध कर रहे थे। इनके रवैय्ये का ठीक-ठीक पता इस बात से लगना है कि, इन्होंने मुसलिम-लीग की लण्डन शाखा को उसके द्वारा किये गये अनुरोध पर डांटा था। उन्होंने कहा, "सरल-हृदयी और आत्मप्रवचक लोगों ने इस बातका ढिंढोरा पीटा है कि मुसलमान कांग्रेस से जाकर मिले। कारण, बंगाल के विभाजन को रद्द कर दिया गया है। अथवा ईरान और तुर्किस्तान मुसीबत में फसे हुए हैं। हमें इनकी अनधिकार नासमझी और बेवकूफी पर हंसी आती है। लेकिन, जब, अखिल भारतीय मुसलिम-लीग की लण्डन शाखा-जैसी जिम्मेदार संस्था हिन्दू और मुसलमानों के निकट सहयोग की बात करती है, क्योंकि त्रिपोली और ईरान के मुसलमान यूरोपियनों के धावे के शिकार बन गये हैं, तो हमें यह पहली बार महसूस होता है कि, सुलझे हुए दिमाग भी बहक सकते हैं और समस्या को उलझा सकते हैं। बाहर के मुसलमानों से हिन्दुस्तान के मुसलमानों का क्या सम्बन्ध है? या तो उनके दिल हिन्दुओं के हितों से सीधे टकराते हैं या वे अबतक राजनीतिक महानीचता और मक्कारी के अपराधी रहे हैं। क्या हिन्दुस्तान में कोई परिवर्तन हुआ है?

भारतीय अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। परिवर्तन चाहते थे, वास्तव में, भारतीय मुसलमान, जिनका दृष्टिकोण संकुचित था। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के आरंभ से ही मुसलमानों के अन्दर न्याय-मूर्ति बजरुद्दीन तैय्यबजी और श्रीयुत रहमतुल्ला सयानी जैसे अनुभवी और अग्रगण्य व्यक्तियों की कमी न थी, जिन्होंने अच्छा या बुरा समझकर कांग्रेस के साथ काम करने का फैसला किया था। शेख रज़ाहुसैन ने लखनऊ के सुन्नी मुसलमानों के नेता से कांग्रेस के समर्थन में एक फ़तवा निकलवाकर घोषित किया था कि "मुसलमान कांग्रेस के विरोधी नहीं

हैं बल्कि, मुसलमानों के अधिकारी स्वामी कांग्रेस का विरोध करते हैं।”

लेकिन अब एक आवाज उठी, जिसने मुसलिम-जगत में अपना प्रभाव दिखाया। “अल-हिलाल” के प्रकाशन को मुश्किल से छः महीने बीते होंगे कि सब-के-सब शिक्षित मुसलमान एक नई राजनैतिक चेतना से जाग उठे। अलीगढ़ विचार वाले नेतृत्व ने—जिसने मुसलमानों की राजनैतिक प्रगति में रोड़ा अटका रक्खा था—भी जिसका प्रधान लक्ष अंग्रेजी शासन के प्रति विशुद्ध राज-भक्ति था, इस राजनैतिक जागृति के सामने अपने-आपको बिल्कुल लाचार पाया। सैयद वजीर हसन (बाद में न्यायमूर्ति सर वजीर हसन) उस समय मुसलिम लीग के मंत्री थे। इन्होंने प्रारंभ में “अल-हिलाल” का विरोध किया, लेकिन जब उन्होंने नई जागृति देखी तो, वे भी समय की आवश्यकता के अनुसार लीग के राजनैतिक ध्येय में परिवर्तन करने पर सहमत होगये। इसी बात को विशेष रूप से ध्यान में रखकर उन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया और वे कलकत्ता गये और वहाँ उन्होंने मौलाना से बातें की। अप्रैल सन् १९१३ में अखिल भारतीय मुसलिम लीग का जो अधिवेशन लखनऊ में हुआ, उसमें लीग के विधान को संशोधित किया गया और लीग का ध्येय ‘ब्रिटिश-सरकार के प्रति राजभक्ति और मुसलमानों के अधिकारों की प्राप्ति’ के स्थान पर ‘भारत के लिए योग्य स्वशासन की प्राप्ति’ बना। इस तरह लीग ने अपने इतिहास में पहली बार राजनैतिक उद्देश्य को अपनाया।

मौलाना “योग्य” शब्द नहीं चाहते थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि, लीग के विधान में राजभक्ति की घोषणा के लिए कोई स्थान न रहे। किन्तु मौलाना मुहम्मद अली ने मौलाना का विरोध किया था। आज राजभक्ति के कर्तव्य पर जोर देने वाले उनके शब्द, बिल्कुल अजीब से लगते हैं कि किसी को मुसलमान बनने के लिए सिर्फ एकबार कलमा पढ़ना पर्याप्त है। फिर भी, सच्चे और ईमानदार मुसलमान को इससे सन्तोष नहीं होता। वह रोज कलमा पढ़ता है। इतना ही नहीं, वह हर अवसर पर उसको दोहराता है। इसी तरह यद्यपि ब्रिटिश सरकार की राजभक्त प्रजा होते हुए भी हमें केवल राजभक्त होने मात्र से संतोष न करना चाहिए। हमें चाहिए कि हर बार, जीवन की हर हलचल में हम राजभक्ति का प्रदर्शन करें।’

जिस परिवर्तन का असर भारतीय मुसलिम-जगत पर तेज़ी से पड़ रहा था उसमें पाश्चात्य घटनाओं की परिस्थितियों में परिवर्तन भी मुख्यतः एक कारण था। सर वेलेण्टाइन चिरोल के उद्धरणों में वर्णित घटनाओं के अलावा महायुद्ध छिड़ने की घटना ने मौलाना मोहम्मदअली सरीखे व्यक्तियों को हिला दिया। उन्होंने युद्ध के चलते हुए भी यह घोषित किया कि "यदि हमें स्वशासन दे ही दिया जाय तो हम नभ्रतापूर्वक सरकार से कहेंगे कि इसका यह समय नहीं है, और इस समय हमें ऐसी ही सहूलियतों को सधन्यवाद लौटा देना चाहिए। सहूलियतें शान्तिकाल में मांगी जाती हैं और स्वीकार की जाती हैं। हम रूसी पोलिस्तानी नहीं हैं। हमें रिश्वत की आवश्यकता नहीं।"

अब यह सभी जानते हैं कि उस लेख के कारण जिसमें उन्होंने अपनी राजभक्ति की घोषणा की थी, उन्हें जमानत देनी पड़ी और बाद में पत्र को बंद कर देना पड़ा। और इसी लेख के कारण उनको उनके भाई के साथ नजरबन्द भी कर दिया गया। मौलाना के 'अलहिलाल' पत्र की युद्ध के काल में पच्चीस हजार तक ग्राहक संख्या बढ़ी और उसको हिन्दुस्तान के कोने-कोने में पढ़ा जाने लगा। इसके बढ़ते प्रभाव का दो घटनाओं से अनुमान लगाया जा सकता है, जो उल्लेखनीय हैं। मुलतान में तैनात भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य मि० फिल्टबी को पंजाब सरकार के सामने इस पत्र पर रिपोर्ट पेश करने लिए विशेष रूप से नियुक्त किया गया था। इन्हें सिविल सर्विस अफसरों की परीक्षा समिति के मंत्री की हैसियत से कलकत्ता जाना पड़ा। ये 'अलहिलाल' की शैली से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने, मौलाना के उत्कृष्ट सम्पादन पर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए, उनसे मुलाकात की। मौलाना के सम्पर्क के कारण उन्होंने अरबी पढ़ना शुरू किया और मेसोपोटामिया जाकर उन्होंने 'हार्ट-आफ अरेबिया' (अरब का मर्म) नामक पुस्तक लिखी।

बंगाल के क्रान्तिकारियों के अपने पुराने सम्पर्क के कारण मौलाना पहले ही से गुप्तधर विभाग और सर चार्ल्स क्लीवलैंड की आंखों में खटक रहे थे और ये इन्हें फंसाने के लिए सामग्री की तलाश में थे। सन् १९१४ के प्रारम्भ से मौलाना जान चुके थे कि उनके पत्र का भाग्य और पत्र के साथ उनका खुद का भाग्य भी कच्चे घागे से लटक रहा है। क्योंकि

युक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन के कहने पर नवम्बर में इलाहाबाद के “पायनियर” ने कलकत्ते में “प्रति-जर्मनवाद” नाम का अग्रलेख प्रकाशित किया जिसमें उसने मौलाना पर उनके जर्मनों के पक्ष में झकाव होने का आरोप किया। यह एक बड़ा लम्बा लेख है और लेख के द्वारा इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि पत्र पर कितनी कड़ी निगाह रक्खी जाती थी। उसने अपने पाठकों को पत्र का परिचय इस प्रकार कराया :

“ ‘अलहिलाल’ उर्दू का एक सचित्र साप्ताहिक कलकत्ते से निकलता है, जिसका सम्पादन अबुल कलाम नाम के दिल्ली के एक मुसलमान करते हैं। इस प्रान्त में मुसलमानों के अन्दर इसकी बहुत बड़ी ग्राहक संख्या है और शायद इसी प्रकार भारत के और हिस्सों में भी हो। जब से युद्ध छिड़ा है, तब से इस पत्र का रवैया इतने प्रचण्ड रूप में जर्मनी के पक्ष का है कि इसके पाठकों को यह आश्चर्य होता है कि सरकार इसके लेखों को कैसे बर्दाश्त करती जा रही है। सम्भवत इसकी वजह यह हो सकती है कि उर्दू भाषा में प्रकाशित होने के कारण कलकत्ता खास में लोगों का ध्यान इस पत्र की ओर कम जाता हो और यही एक प्रमुख कारण है कि सम्पादक ने पत्र प्रकाशन के लिए कलकत्ते का चुना है। इसकी दूसरी वजह यह हो सकती है कि इसके सबसे अधिक शरारत भरे लेखों की शैली बड़ी ही आमक और विद्वेश-मूलक है और इसकी टीका-टिप्पणियों की छीटाकसी अप्रत्यक्ष रूप की है, जिनका अंग्रेजी अनुवाद में असली भाव उतारना कठिन है; और यह भी सम्भव नहीं है कि बहुत से अंग्रेज अफसर इस पत्र को मूल-रूप में यानी उर्दू में पढ़ सकें।”

इसके बाद विभिन्न लेखों के उद्धरण दिये गये हैं—जिनमें से एक या दो यहां दिये जा सकते हैं :

“वर्तमान युद्ध के इतिहास में अष्टपर्व के किलों ने इतनी ऐतिहासिक विशेषता पाई है कि सैनिक विज्ञान ने उन्हें अभागे समझ कर नहीं त्यागा और जाहिरा तौर पर तो उनमें लीज और नाभूर के समान अब तक तो न कोई ऐब पाये गये हैं न बनावट की खराबियां। उन्हें

१. ‘पायनियर’ यह अंग्रेजी दैनिक पहले इलाहाबाद से निकलता था। अब वही लखनऊ से निकल रहा है। —अनुवादक।

सर कर लिया गया, लेकिन उनकी मजबूती तथा बचाव की वास्तविकता जैसी-की-वैसी बनी है और बजाय, बीच-बीच में उनके ऐबों और खराबियों के गीत गाने के, उनकी मजबूती का लोहा मान लिया गया है। इस तरह सच्चाई और वास्तविकता की ओर सर्व प्रथम कृपा दृष्टि गई है। खुदा का शुक्र है कि जिस थोड़ी बहुत आलोचनात्मक बुद्धि का अकाट्य उपयोग उन अभागे हारे हुए किलों की खामियां ढूढने में किया गया था अब उसका थोड़ा-सा उपयोग जर्मनों के अजीब और आश्चर्यजनक तोपखानों की खोज में किया गया है। अब यह निश्चित रूप से मालूम हुआ है कि इन सब आश्चर्यजनक नतीजों का श्रेय जर्मनी को नहीं बल्कि उसकी दुर्ग-विनाशक तोपों को है, जिनका व्यास ३७ सेण्टिमिटर है और जो तीस मन का गोला फेंक सकती है। (अब यहां फारसी का एक उदाहरण है—हमे इस बलहीन घास के तिनके से ऐसी आशा न थी।) यह घोषित किया गया है कि एण्टवर्प के लिए ब्रिटिश कुमक भेजी गई थी जिसके कारण वहां के निराश निवासियों की दो रातें आशा और आनन्द में बीती। इस कुमक के आगमन का स्वागत हर्षोल्लास के साथ हुआ और गिरजों में धन्यवाद के मंत्रों का पाठ हुआ। फिर भी यह अमूल्य कुमक अभागे बेलजियम निवासियों को लाभ न पहुंचा सकी और अनेक विपरीत दुर्घटनाओं के कारण ब्रिटिश वीरता को अपने फौजी जौहर और सैनिक श्रेष्ठता दिखाने का अवसर ही नहीं मिला जो उसने कई बार फ्रांस के मैदान में दिखाये थे। फिर भी बड़ी बुद्धिमानी से उन्होंने अपनी सेना के एक बड़े हिस्से को विनाश से बचा लिया और वे पलायनकारों के साथ एण्टवर्प और ओस्टेण्ड से वापिस आ गये।”

“अब वास्तविक तथ्य सूर्य के समान साफ हो गये हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी की आश्चर्यजनक शक्ति और अस्त्रशस्त्र के बारे में जो कुछ समस्त संसार को विदित था, वह युद्ध प्रारम्भ होने के पहले जितना अचूक था, आज भी है। जर्मनी ने समस्त बेलजियम पर अपना अधिकार जमा लिया है और वह पेरिस तक बढ़ चुका है। वह रूसियों के साथ रूस में लड़ रहा है और मीलों तक उसकी सीमाओं में घुस चुका है। उसके अफ्रीका के उपनिवेश सम्पूर्ण रूप से जीते नहीं गये और जापान भी अपनी विख्यात नाविक शक्ति द्वारा किआऊचाऊ को दो महीनों में न ले सका। दूसरी

तरफ, जर्मनी की इंचमर भी भूमि उसके शत्रुओं के हाथ न लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि इस युद्ध से जर्मनी के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्र चौपट होगये हैं—जैसे बेलजियम, फ्रान्स और रूस का कुछ हिस्सा। लेकिन खास जर्मनी में कोई लड़ाई नहीं हो रही है। इस तरह उसकी आन्तरिक शांति और सुरक्षा तथा गृह व्यापार एवं आर्थिक अवस्था पूर्ववत् बने हैं। वे अपने कारखानों का उपयोग सैनिक सामान तैय्यार करने में कर रहे हैं। वे तोपें बना रहे हैं और सैकड़ों पनडुबिया एक ही दफे में तैय्यार कर लेते हैं। इन बातों से युद्ध के वर्तमान नतीजे बिल्कुल स्पष्ट दृष्टिगोचर होते जा रहे हैं। अष्टवर्ष और ओस्टेन्ड को जीतने से युद्ध में जर्मनी की हालत बहुत ही मजबूत और प्रभावशाली होगई है। और दूसरी तरफ समुद्र के उस पार इसके शत्रुओं के लिए रास्ता बन्द होगया है। जाहिरा तौर से जर्मनी का आघात काम सफल हो चुका है। बेलजियम और समुद्रतट से तो वह चिन्ता-मुक्त है और वह नवशक्ति से आगे बढ़ना प्रारम्भ करेगा। उसने शेल्ड्ट नदी में सुरंगें बिछा दी हैं और अब वह इंग्लिश खाड़ी पर अपना प्रभाव फैलाने की कामना करेगा।”

इन तथा दूसरे उद्धरणों पर ‘पायनियर’ की टिप्पणी का दो वाक्यों में निष्कर्ष निकाला जा सकता है :

“इन पक्तियों के लेखक का स्पष्ट उद्देश्य अपने सहधर्मियों में यह विश्वास पैदा करने का है कि जर्मनी अजेय है और ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत उसके धावों का प्रतिकार कर उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। हम यह बेखटके कह सकते हैं कि जो सरकार वर्तमान नाजुक घड़ी में एक ब्रिटिश प्रजाजन को ब्रिटिश सैनिक और नाविक के विरुद्ध किसी तरह घृणित और झूठे आरोपों को बगैर किसी रोक-टोक के प्रकाशन करने देती है वह ‘सहिष्णुता में अत्यन्त ऊँची गैर-जर्मन-भावना’ का अधि-कारिणी कहला सकती है।”

वास्तविकता जो भी हो, लेकिन यह बात साफ है कि मीलाना की कलम अति पंथी थी और उनके लेख ऐसी ज्ञातव्य बातों से भरे होते थे कि अंग्रेजी पत्रों में भी ये साधारण रूप से नहीं पाई जाती थी। इसके अलावा, उनमें परिणामों की परवाह न करते हुए तीन मित्र-मुल्कों के बारे में कटु-से-कटु बात कहने का साहस था। जो उन्होंने कहा और लिखा

वह इतना विदेश-मूलक न था जितना 'पायनियर' समझता था। इसका निर्णय इस बात से हो सकता है कि सरकार ने इस लेख के प्रकाशित होने के बाद से अट्टारह महीने तक अपनी 'सहिष्णुता की गैर-जर्मन भावना' का प्रदर्शन किया। पत्र की जमानत जब्त करने की कार्यवाही की गई, और सम्पादक के नाम पंजाब, युक्तप्रान्त और मद्रास में प्रवेश करने की मनाही के हुक्म जारी किये गये, तथा ७ अप्रैल १९१५ का बंगाल सरकार ने उन्हें अपने प्रान्त से बाहर निकल जाने का आदेश दिया। वे स्वास्थ्य-सुधार के लिए रांची गये जहाँ उन्हें भारत सरकार ने सन् १९२० के आरम्भ तक नज़रबंद रक्खा।

नज़रबंदी की अवस्था में भी वे मसजिद जाया करते थे और प्रति शुक्रवार को उपदेश दिया करते थे। उन्हें पुस्तकें रखने की अनुमति थी और यही पर उन्होंने तज़क़िरा—आत्मसंस्मरण पर एक ग्रंथ लिखा। यह उनके मोहक शैली की सर्वोत्कृष्ट कृति है जो पाठक को ऐसा मुग्ध कर देती है कि वह उसको तब तक नहीं छोड़ता जब तक उसे समाप्त नहीं कर लेता। फिर भी मुझे बताया गया है कि उस में अपने निजी जीवन के बारे में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है। कुरान पर उनके महाभाष्य का एक हिस्सा भी यही लिखा गया, लेकिन इसके बारे में अधिक अगले अध्याय में।

: ७ :

बाढ़

सन् १९१९ से १९२१ तक के तीन साल के इतिहास का वर्णन अब तक बहुत से लेखकों ने किया है। लेकिन, जितने स्पष्ट रूप से और उत्कृष्ट शैली से इसका वर्णन प० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी “मेरी कहानी” में किया है, उतने स्पष्ट रूप से किसी ने नहीं किया। मैं उस हृदय-विदारक कथा को यहाँ फिर से दोहराने की चेष्टा नहीं करूँगा। ये वे दिन थे जिसकी ओर प्रत्येक वह भारतीय गर्व और उल्लास से देखता है, जिसने अपने देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम में—चाहे थोड़ा अथवा अल्प महत्व का ही—हिस्सा क्यों न लिया हो। प्रत्येक देश-भक्त को अपने बारे में कुछ-न-कुछ बात कहना है। ऐसी वीर-गाथाओं से एक ग्रंथ को भर देना आसान होगा जो गाथाएँ भिन्न-भिन्न देश-भक्तों की होती हुई भी समान वर्णन की हो सकती हैं। लेकिन, फिर भी पाठक ऐसी गाथाओं को पढ़ने से उकतायेगे नहीं। क्योंकि, उस महा-नाट्य में हर पुरुष और स्त्रा, युवक और वृद्ध, यहाँ तक कि, बच्चों ने भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अपना-अपना पार्ट अदा किया था।

उस सुहावने प्रभात में जीवित रहना परम सौभाग्य था,

किन्तु युवावस्था में रहना तो बस स्वर्ग ही था।

मैं उन दिनों की कथा का उल्लेख उसी हद तक करूँगा जिस हद तक मौलाना से सम्बन्ध है। सन् १९२० में जब वे नजनबन्दी से मुक्त हुए तब उन्होंने देश के अन्दर एक ऐसा दृश्य देखा जिसके लिए वे बिल-कुल तैयार न थे। रौलट एक्ट के कारण, गांधीजी प्रायः एक साल की बीमारी को एकदम झटक कर खड़े हो गये थे, और ससार में शक्ति-शाली साम्राज्य की अवहेलना करने पर तुले हुए थे। उनके ग्राह्वान पर

नगर, कस्बे, और गांवों की, कुचली, मुरभाई, निराश—यहां तक कि मृत मानवता भी जीवित हो उठी थी। संग्राम के अहिंसात्मक उपाय ने अबोध और अशिक्षित, कंगाल और मरीज को भी इसमें भाग लेने का अवसर प्रदान किया था। पंजाब के कुछ हिस्सों में शक्ति की स्वच्छन्द बाढ़ अहिंसात्मक संग्राम के जनक द्वारा निर्धारित सीमा को पार कर गई थी। इसका एक अग्रज जनरल ने सामना किया जिसने साम्राज्य की रक्षा में नारकीय नर-हत्या से खून का नदियां बहाईं, जिसके लिए भद्र अग्रजों ने मारे शर्म के गर्दन भुका कर निन्दा की। यद्यपि उसने कुछ सौ आर्दामियों को ही मशीनगनों का शिकार बना कर मौत के घाट उतार दिया था लेकिन वह भय और आतंक फैलाने के अपने हेतु में सफल न हो सका था। इस घटना के बारे में मौलाना मोहम्मद अली ने कहा है—“तीस साल पहले सर सैय्यद अहमद ने जिस अस्थायी उद्देश्य से दीवार खड़ी की थी उसे पूरी तौर से ढहाकर भारतीय राष्ट्रीयता की अग्रदूत-कांग्रेस के सन् १९१९ वाले अमृतसर अधिवेशन में भारतीय मुसलमानों को उपस्थित करने का काम जनरल डायर के लिए सुरक्षित रखा गया था।” उसके सैनिकों की गोलियों ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद को नहीं पहचाना। और स्पष्टतः परमात्मा की भी ऐसी इच्छा रही कि, एक सम्प्रदाय—जो मुसलमानों से भी अधिक राजभक्त था—सिक्खों का सम्प्रदाय—उसने भी हिन्दू और मुसलमान शहीदों के खून के साथ अपने खून से अपनी धार्मिक राजधानी अमृतसर की पवित्र भूमि को रंग दिया था। यह भी ईश्वर की एक कृपा थी।”

जिसे पंजाब-अन्याय कहते हैं, उससे बढ़कर खिलाफत-अन्याय या उपस्थित हुआ। इस्लाम के पवित्र स्थानों को सुरक्षित रखने का तथा उन्हें गैर-मुसलिम शक्तियों के अधिकार से मुक्त रखने का भारतीय मुसलमानों को ब्रिटिश प्रधान मंत्रियों द्वारा दिया हुआ वचन तोड़ दिया गया था। सबके-सब मुसलमान इस असह्य अन्याय की निन्दा करने तथा धीरे-से-धीरे परिणामों को बरदाश्त करने के लिए एक होगये थे। हिन्दु-स्तान के लोग, जिन्होंने अग्रजों को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में जन, धन और सामग्री से बेहद मदद की थी, रौलट एक्ट को अन्याय की पराकाष्ठा के रूप में देखने लगे, और जो मुसलमान अग्रजों के साथ कंधे-से-

कंधा मिलाकर अपने सहचरियों के विरुद्ध लड़ चुके थे वे खिलाफत अन्धाय को विश्वासघात की असह्य करनी के रूप मे देखने लगे । उन्होंने वाइसराय के पास प्रतिनिधि मण्डल भेजा और इसी तरह उनका एक प्रतिनिधि मण्डल इंग्लैण्ड गया और जब उन्हें पता चला कि उनकी बात-चीत के ये सब उपाय असफल होगये, तब उन्होंने आपस मे बैठकर सलाह-मशविरा किया और देश के नायक गांधीजी द्वारा बताये उपचार को अपनाया । असहयोग एक ऐसी उपचार था जो भद्र-अवज्ञा से अधिक याह्य, प्रभावशाली और स्वाभाविक था । क्योंकि, भद्र-अवज्ञा का प्रयोग देश के तैयार न होने की अवस्था मे किया गया था और वह असफल साबित हो चुका था । लेकिन, असहयोग के साथ अहिंसा की अनिवार्य शर्त लगादी गई थी । क्या असहयोग और अहिंसा मुसलिम आदेश और उपदेश के अनुरूप थे ?

मौलाना अबुलकलाम आजाद अब मैदान मे उतर पड़े । उनका अध्ययन गहरा और गभीर था, उनकी वाग्विदग्धता और समझाने की शक्ति अद्वितीय थी और उनका दृष्टिकोण आधुनिक था । लेकिन, यह दृष्टिकोण मौलाना के समान ही विद्वान् पुस्तकों के बाहर न देखने वाले धर्माध्यक्षों के लिए शास्त्रोक्त न था । वे ऐन मौके पर नज़रबन्दी से मुक्त हुए थे । वे किसी भी मुसलिम नेता से बढकर गांधीजी के लिए बड़े ही सहायक थे, यद्यपि इन सब नेताओं से उम्र मे छोटे थे । असहयोग एक नया शस्त्र था और अहिंसा की शर्त के साथ इसका प्रयोग इन सब नेताओं को बड़ा विकट मालूम देता था । मैने उनसे प्रार्थना की कि वे उन दिनों की मुसलमानों की आपस की प्रारंभिक बहस की एक-एक बात बताने की कृपा करे, जिनके कारण उन्होंने अन्त में असहयोग को अपनाया था । इस बहस की बारीक-से-बारीक बात को याद रखने की उनकी विशुद्ध स्मरण-शक्ति का मै ऋणी हूँ । उन्होंने कहा :

“मुझे सब से पहली बार गांधीजी से दिल्ली में ८ जनवरी १९२० को मिलने का अवसर मिला । टर्की के बारे में भारतीय मुसलमानों के विचार सरकार के समक्ष उपस्थित करने के लिए वाइसराय के पास प्रतिनिधि-मण्डल भेजने के उद्देश्य से सब हिन्दू और मुसलिम नेता वहा इकट्ठा हुए थे । लोकमान्य तिलक भी दिल्ली मे थे । प्रतिनिधि मण्डल

के सदस्य की हैसियत से मेने वाइसराय के पास उपस्थित किये जानेवाले आश्वासन-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये थे। लेकिन सरकारी भवन तक जाने के लिए मेरी आत्मा गवाही नहीं दे रही थी। स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली और अन्य मित्र मुझे प्रतिनिधि मण्डल में शामिल होने के लिए आग्रह कर रहे थे, लेकिन मुझे लग रहा था कि प्रतिनिधि-मण्डल से कोई मतलब हासिल न होगा।

“फिर भी प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय से मिला और अपेक्षानुसार उससे कोई विशेष काम नहीं निकला। वाइसराय ने सिर्फ एक ही आश्वासन दिया कि अगर प्रतिनिधि-मण्डल को लंडन भेजना तय हुआ तो भारत सरकार सभी सहूलियतें प्रदान करेगी। इस पर तय हुआ कि स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व करे। वे जाने के लिए तैयार थे। लेकिन अब दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ, क्या मुसलमान केवल प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर ही सन्तोष करे अथवा उन्हें और भी कुछ करना चाहिए। मेरी राय थी कि हाथ पसारने, प्रार्थना-पत्र भेजने, प्रतिनिधि-मण्डल भेजने आदि के पुराने उपायों से कोई काम न निकलेगा। हमें ऐसे साधनों की खोज के प्रयत्नों में लग जाना चाहिए जिन से प्रत्यक्ष दबाव पड़ सके। लेकिन बहुत से लोग इस विचारशैली से बिचक रहे थे। उनके पास कोई विधायक प्रस्ताव न थे। लेकिन कोई ठोस बात पेश होती तो उसमें वे ऐब निकालने के लिए तैयार रहते।”

“हकीम अजमल खा के दीवानखाने में (बैठक में) लगातार छ. घण्टे तक बहस चलती रही। लेकिन नतीजा कोई न निकला। इसके बाद गांधीजी ने प्रस्ताव किया ‘कि सलाह-मशविरों से समस्या पर निर्णय करने के लिए दो या तीन सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त की जाय। उनका निर्णय फिर बड़ी समिति के सामने रखा जाय। हकीम साहब और मैं समिति के लिए चुने गये। हम गांधीजी के साथ स्वर्गीय प्रिंसिपल रूद्र की कोठी पर पहुँचे और तीन घंटे तक उनसे एकान्त में बातचीत करते रहे। यहीं पर असहयोग की कल्पना का बीज पड़ा। गांधीजी ने कार्यक्रमकी एक-एक बात विशदरूप से हमारे सामने रखी और मुझे उनसे हर बात में सहमत होने में दिक्कत न हुई। मेरे लिए यह बात साफ होगई थी कि कार्य करने का इससे बढ़कर प्रभावशाली और अच्छा मार्ग है ही नहीं।”

“दूसरे दिन प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य फिर से एकत्रित हुए और गांधीजी ने उन्हें अपना प्रस्ताव समझाया। फिर भी उनके दिलमें हिच-किचाहट थी। सर्वश्री स्वर्गीय मौलाना अब्दुल 'बारी', मोहम्मद 'अली और शौकतअली अबतक कुछ फैसला न कर पाये थे। अतः उन्होंने और समय चाहा। लेकिन स्वर्गीय हकीम साहब ने मेरा सम्पूर्ण समर्थन किया। इसी समय मेरठ में खिलाफत सम्मेलन हो रहा था। इसलिए गांधीजी और मैं दिल्ली से मेरठ पहुँचे। इसी सम्मेलन में सबसे पहली बार असह-योग का कार्यक्रम उद्घोषित किया गया। इसके बाद फरवरी के अन्त में कलकत्ता के अन्दर मेरी अध्यक्षता में खिलाफत सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन हुआ। मैंने अपने अध्यक्षपद के भाषण में मुसलमानों द्वारा उसी कार्यक्रम को अपनाने की सिफारिश की।”

इस तरह कलकत्ते के विशेष अधिवेशन तथा नागपुर के वार्षिक अधिवेशन के लिए वातावरण तैयार किया गया और असहयोग के विभिन्न अंगों—कौंसिल, स्कूल और अदालतों के बहिष्कार—का प्रस्ताव प्रचंड बहुमत से पास किया गया।

बाकी की कहानी बताने में देर न लगी। समस्त देश के कोने-कोने में सभाएं होने लगी, जिनमें हजारों और लाखों की सख्या में पुरुष और स्त्रियाँ उपस्थित होते थे। गांधीजी और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद इन सभाओं में भाषण देते थे। एक प्रान्त में अलीबन्धु तो दूसरे प्रान्त में देशबन्धुदास, पं० मोतीलाल नेहरू और पं० जवाहरलाल नेहरू सभाएं करते घूमते रहते थे। इन भाषणों का आश्चर्यजनक असर हुआ करता था। गांधीजी समय-विभाग (Time-Table) से काम करते थे। घोषणा की अंतिम तिथि पर एक लाख रुपये इकट्ठे हुए। छात्र और छात्राओं ने स्कूल और कालेजों को खाली कर दिया और असह्य वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी, जिनमें से बहुतसों ने जीवन-भर के लिए। दोनों पण्डित, देशबन्धुदास, सरदार वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रप्रसाद, श्री राजगोपालाचार्य अति योग्य वकीलों में से थे, जिन्होंने हजारों रुपये की अपनी मासिक आमदनी को तिलांजलि देकर अपने आपको देशसेवा के लिए समर्पण कर दिया। सभाओं में स्त्रियाँ हजारों की सख्या में उपस्थित होती थी और गांधीजी के भिक्षा-पात्र में अपनी सम्पत्ति

तथा बहुमूल्य आभूषण उंडेलती जाती थीं ।

मौलाना की अद्वितीय वाग्विदग्धता श्रोताओं को मुग्ध कर देती थी । सामान्य सभाओं के समान ही मुसलिम धर्मगुरुओं की असामान्य सभाओं में भी उनकी माग होती थी । देश के सभी प्रधान स्थानों से लाहौर आये हज़ारों मुसलिम धर्माध्यक्षों के एक विशेष सम्मेलन में मौलाना अबुलकलाम आजाद को समस्त भारत के लिए इमाम (सर्व श्रेष्ठ आध्यात्मिक प्रधान) नियुक्त किया गया । एक मुसलिम धर्मगुरु के लिए इससे बढ़कर सम्मान हो ही नहीं सकता था । अधिकार की लालसा करनेवाले के लिए इससे अच्छा सुनहरी मौका भी न था । लेकिन मौलाना ने इसे आदरपूर्वक अस्वीकार किया । धर्माध्यक्षों ने, जिनमें देवबन्द और लखनऊ के अतिकट्टर धर्माध्यक्ष थे—बह जानते हुए कि उनके विचार उग्र हैं—सम्मान स्वीकार करने के लिए आग्रह किया । लेकिन, जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे कि वे कुछ ही दिन बाद गिरफ्तार कर लिये गए । सन् १९२३ में उनके मुक्त होने पर उनसे फिर आग्रह किया गया । लेकिन, उन्होंने जमीयत-उल-उलेमा की कार्यसमिति को समझाया कि किसी भी धर्मगुरु की—चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो—आध्यात्मिक प्रधान-पद पर नियुक्ति खतरों से खाली नहीं है और वह मुसलिम सम्प्रदाय की प्रगति में बाधक हो सकती है । इसीलिए उन्होंने इसके लिए आग्रह न करने की उनसे प्रार्थना की । यह त्याग की एक बड़ी बाब थी, जिसके द्वारा धर्मगुरुओं के पास उनकी कीर्ति पहले से अधिक उज्ज्वल और स्थिर हुई ।

: ८ :

निष्ठा की घोषणा

सन् १९२१ के अन्तिम सप्ताह सरकार के लिए बड़े ही सरगर्मी के थे। इस पूरे वर्ष में कानून और अधिकार की पर्याप्त अवहेलना हो चुकी थी और यह अवहेलना तब चरम-सीमा पर पहुँची जब राजद्रोह और सिपाहियों की राजभक्ति को डावाडोल करने के अपराध में अली-बन्धुओं के साथ और कुछ लोगों को गिरफ्तार किया गया था। अली बन्धुओं में एक बन्धु, मौलाना मुहम्मद अली को गांधीजी के साथ दौरा करते समय गिरफ्तार किया गया था; क्योंकि, दोनों-के-दोनों (गांधीजी और मौलाना मुहम्मदअली) खास एक सार्वजनिक सभा में भाषण देने जा रहे थे। गांधीजी को उस समय यह न मालूम हुआ था कि मौलाना मुहम्मदअली को क्यों गिरफ्तार किया गया है। लेकिन, उनके तुरन्त विरोध ने समस्त देश को गुंजा दिया था, "मौलाना मुहम्मदअली को जेल भेजकर सरकार ने खिलाफत को जेल में बंद कर दिया है। क्योंकि, दोनों भाई खिलाफत के अत्यंत निष्ठावान प्रतिनिधि हैं।...हमें चाहिये कि हम बंधुओं के साहस, तथा उनकी निष्ठा, निर्भीकता, सच्चाई और निरंतर सावधान रहने की कार्यशीलता का अनुसरण करें।" एकही दो दिन में बम्बई के लाट ने विज्ञप्ति निकालकर यह बताया था कि मौलाना मुहम्मदअली, उनके भाई तथा और पाँच विभूतियों को क्यों गिरफ्तार किया गया। उनपर इस लिए मुकदमा चलाया जाने वाला था कि वे कराँची सम्मेलन में ऐसे प्रस्ताव को पास कराने के जिम्मेदार थे, जिससे सिपाही की राजभक्ति विचलित होती थी, और गवर्नर ने घोषित किया था कि सरकार ऐसी हरकतों को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करेगी। उसे अपने राज-काज से मतलब है। यह विज्ञप्ति और घोषणा जनता की ओर से

दूसरे आह्वान का सकेत बनी। गांधीजी ने इस आह्वान को ऐसे शब्दों में व्यक्त किया, जिसको गलत नहीं समझा जा सकता। उन्होंने घोषित किया कि बम्बई के गवर्नर "स्पष्टतया नहीं जानते कि गत वर्ष के सितम्बर मास से ही राष्ट्रीय महासभा ने सिपाहियों की राजभक्ति की निष्ठा को विचलित करना प्रारम्भ कर दिया है और केन्द्रीय खिलाफत कमेटी ने तो यह काम इसके पहले ही शुरू कर दिया था और इसके भी पहले मैंने शुरू किया था। इसकी अच्छाई या बुराई का श्रेय मुझे लाने की अनुमति मिलनी चाहिये; क्योंकि, मैंने ही सुझाया था कि, हिन्दुस्तानियों को यह खुले आम कहने का अधिकार है कि सिपाही या और कोई, जो किसी भी हैसियत से सरकार की नौकरी करता है वह सरकार द्वारा किये गये अन्यायों का भागीदार है। करांची के सम्मेलन ने केवल कांग्रेस की घोषणा को इस्लाम के शब्दों में दोहराया है। जिस किसी में मानवता का थोड़ासा भी अंश बाकी रहा हो और कोई भी मुसलमान जिसके अन्दर अपने धर्म का थोड़ा-सा भी अभिमान बचा हो वह मौलाना से भिन्न किस तरह सोच सकता है ?... बम्बई के गवर्नर द्वारा सिपाहियों की राजभक्ति में विघ्न पहुँचाने के बारे में किये हुए उल्लेख से अली-बन्धुओं के राजद्रोह का उनका कथन कम-क्षम्य है। क्योंकि, उन्हें मालूम होना चाहिये कि राजद्रोह कांग्रेस का ध्येय बन गया है। प्रत्येक असहयोगी ने कानून द्वारा स्थापित सरकार के प्रति असतोष का प्रचार करने की शपथ ली है।" इस निर्णय ने घोषणा-पत्र (Manifesto) का रूप धारण किया, और भोषण-से-भीषण परिणामों की भी परवाह न कर, सरकार की अवहेलना करने के उद्देश्य से इस घोषणा-पत्र पर देश के सभी प्रमुख नेताओं ने हस्ताक्षर किये। घोषणा-पत्र में घोषित किये गये कि "हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले अपनी वैयक्तिक हैसियत से बोलते हुए स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह बगैर किसी रोकटोक के उन देशवासियों के बारे में अपना स्पष्ट मत प्रदर्शित करें जो सरकारी नौकरियाँ कर रहे हों अथवा सरकारी नौकरियाँ करना चाहते हों—फिर उनकी चाहे नौकरियाँ सैनिक-विभाग में हों अथवा गैर-सैनिक-विभाग में। हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले अपनी राय प्रदर्शित करना

चाहते हैं कि यह किसी भी भारतीय के राष्ट्रीय गौरव के विरुद्ध है कि वह गैर सैनिक-विभाग में, विशेष रूप से सैनिक की हैसियत से सरकार की उस प्रणाली के मातहत नौकरी करे जो प्रणाली भारत की आर्थिक, नैतिक और राजकीय अथवा पतन की जिम्मेदार है तथा जिस प्रणाली के कारण भारतीय आकाशवाणी को कुचलने के लिए सैनिक और पुलिस-शक्ति का उपयोग किया गया है—जैसे रोलट एक्ट-आन्दोलन के जमाने में और जिस प्रणाली ने सैनिकों को भेजकर अरब, मिस्र, तुर्की तथा उन अन्य राष्ट्रों की स्वतंत्रता को कुचला जिन्होंने भारत का कुछ नहीं बिगाड़ा था। हमारी यह भी राय है कि प्रत्येक भारतीय-सैनिक का तथा गैर-सैनिक का कर्तव्य है कि वह सरकार से अपना नाता तोड़ दे और अपने जीवनोपार्जन के लिए कोई अन्य साधन ढूँढ़ निकाले।” इसपर गांधीजी के हस्ताक्षर के बाद हस्ताक्षर करने वालों में मौलाना का दूसरा नम्बर था। इसके बाद असह्य सभा-मंचों से सैकड़ों लोगो ने इस घोषणा-पत्र को दोहराया। लेकिन आश्चर्य की बात है कि सरकार ने इसपर कोई कार्यवाही नहीं की। मुझे तो ऐसा लगा कि सरकार भौचक्की हो गई थी और वह ऐसे देशव्यापी बवण्डर के लिए बिल्कुल तैयार न थी।

इसके कुछ दिन बाद, प्रिंस आफ वेल्स का आगमन हुआ, और कांग्रेस ने उनके स्वागत-समारोह की कार्यवाहियों का बहिष्कार करने का निर्णय किया। मनुष्य के नाते युवराज का अपमान करने का कोई हेतु न था; लेकिन, उनके आगमन का बहिष्कार करने का दृढ़ निर्णय था। क्योंकि, उसकी आड़ में खुले-आम हिन्दुस्तान में “उदार” ब्रिटिश राज्य का विज्ञापन किया जा रहा था। प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत और सम्मान में उनके लिए आमोद-प्रमोदमय भ्रमण और खेल-तमाशों तथा शिकारों में लाखों रुपये खर्च करने का कोई मतलब न था, जबकि देश असंतोष से उबल रहा था और करोड़ों प्रजाजन भुख-मरी की असाध्य बीमारी में तड़प रहे थे। यह सब भ्रष्टाचार और पाप था और कांग्रेस ने घोषित किया कि बहिष्कार को जहाँ तक हो सके वहाँ तक सम्पूर्ण रूप से चलाया जाय। इसके लिए हर प्रान्त में स्वयंसेवकों की भर्ती जारी हुई। इसके जवाब में बंगाल, पंजाब और युक्त प्रान्त में सरकार ने विज्ञप्ति निकालकर घोषित किया कि स्वयंसेवक संगठन गैर-कानूनी है

और स्वयंसेवकों की भरती करना अपराध है। हर जगह विज्ञप्ति की प्रवहेलना करके इस चुनौती को स्वीकार किया गया। न केवल स्वयंसेवक भर्ती किये जाने लगे, बल्कि उनके नाम प्रतिदिन पत्रों में प्रकाशित किये जाने लगे। युक्तप्रान्त की फहरिस्त में सर्वश्री पण्डित मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल के नाम सब से पहले थे तथा बंगाल में चित-रंजनदास और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद। देशबन्धु ने अपने देशवासियों के नाम रणघोषणा की, “मुझे मालूम हो रहा है कि मेरे हाथों में हथकड़िया पड़ी है और शरीर लोह-शृंखलाओं से जकड़ा हुआ है। यह पराधीनता की वेदना है। समस्त भारत एक विशाल बन्दीखाना है। कांग्रेस के कार्य-क्रम को चलाना ही चाहिए। इसकी क्या परवाह है कि मुझे जेल में बन्द कर दिया गया अथवा बाहर ही छोड़ दिया जाय। उसी तरह इसमें कौनसी बात है कि मैं मरूं अथवा जीवित रहूँ।” ऐसा मालूम देता था, मानों समस्त देश विद्युत्तमय हो गया है और यद्यपि, भूषित उपद्रव करके बम्बई ने अपने-आपको कलकित कर लिया था तथापि दूसरे नगरों ने शान्तिमय बहिष्कार को अच्छी तरह चलाया था। इस बहिष्कार के फलस्वरूप इलाहाबाद और कलकत्ता तो एकदम स्मशानवत् दीखते थे और युवराज जहां-जहां गये वहां-वहां मुट्ठीभर सरकारी नौकरों को छोड़कर उनका किसीने स्वागत नहीं किया।

इसके बाद गिरफ्तारियों की सरगर्मी शुरू हुई। चोटी के नेता पकड़-पकड़ कर जेलों में ठूसे गये। युक्त प्रात में सर्वश्री पंडित मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू, पंजाब में लाला लाजपतराय, कलकत्ते में देश-बन्धुदास और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जेलों में भेज दिये गये और इन्हीं के पीछे हजारों कार्यकर्त्ताओं ने गर्व के साथ अपने आपको जेल के सीखचों के पीछे पाया। दिसम्बर और जनवरी के बीच इतने लोग गिर-फ्तार किये गये और उन्हें विभिन्न सज़ाएं दी गईं कि उनकी संख्या किसी कदर तीस हजार से कम न होगी। अदालत में पैरवी करने के विरोध में जोरदार वक्तव्य देकर ब्रिटिश भारतीय अदालतों और ब्रिटिश न्याय का मज़ाक उड़ाया गया।

उस साल देशबन्धुदास कांग्रेस अधिवेशन के और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद खिलाफत अधिवेशन के अध्यक्ष स्थान को सुशोभित करने

वाले थे। अध्यक्षों के नाते अपना-अपना काम अंजाम देने के पहले ही वे बन्दी बन चुके थे। उनकी खुशी का कोई ठिकाना न था। श्रीमती दास ने गांधीजी को एक लम्बा पत्र लिखकर अपने पति की गिरफ्तारी पर अपनी खुशी का प्रदर्शन किया और मौलाना आज़ाद जेल जाने के पहले गांधीजी के नाम एक पत्र छोड़ गये, जिसमें उन्होंने लिखा : “दिन-पर-दिन आपके पास की मानव-सहायता घटती जा रही है, क्योंकि, स्थान-स्थान पर आपके साथी पकड़े जा रहे हैं; लेकिन दूसरी तरफ़ दैवी सहायता बढ़ती जा रही है। हाल के बम्बई के उपद्रवों ने आपको बड़ी वेदना पहुँचाई और इस वजह से आपको इतना दुखी और बेचैन देखकर मुझे भारी खेद हुआ है। लेकिन अतीत की उन शोकमय भावनाओं के स्थान पर आपको सफलता के आनन्द और उल्लास की भेंट देने के लिए अब कल्पकता उठ खड़ा हुआ है।” श्री चित्तरंजन देशबन्धुदास और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का मुकदमा किसी-न-किसी बहाने तीन महीने से अधिक टाला गया। मौलाना को एक साल की सज़ा सुनाई गई और उन्होंने इस बात पर खेद प्रदर्शित किया कि इतनी कम सज़ा देकर ही उन्हें छोड़ दिया गया। लेकिन सज़ा पाने के पहले उन्होंने अदालत के सामने एक बयान दिया जो सत्याग्रही बन्धियों द्वारा दिये गये सभी वक्तव्यों में अनुपम था। वह स्वभावतः मौलाना की मंजी हुई उर्दू भाषा में था और उसका अंग्रेजी अनुवाद जो वस्तुतः उसके मूल के सौंदर्य को ला नहीं सकता था, मटाकर टाईप किये हुए तीस फुल्लकेप पृष्ठों में छाया। गांधीजी ने इसकी तारीफ़ में कहा “खिलाफ़त और राष्ट्रवाद पर मौलाना के विचारों का उत्कृष्ट निबन्ध है” और “वक्तव्य आजीवन कालेपानी की सज़ा का अधिकारी हो सकता है।” उन्होंने यह भी कहा कि इसमें अच्छी राजनैतिक शिक्षा कूट-कूट कर भरी है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि यद्यपि मौलाना को अंग्रेजी शिक्षा का ज्ञान न था, उनकी शिक्षा घर पर ही रहकर हुई थी किन्तु अदालत में दिये हुए उनके बयान से उनके ऐतिहासिक ज्ञान का भण्डार, उनके मार्मिक तर्क और मातृभूमि के लिए त्याग करने का संकल्प प्रगट होता है। उनके इन उद्गारों को बीस वर्ष हो गये, लेकिन उनकी ताज़गी अभी जैसी-की-तैसी बनी है। अतः उनके कुछ अशों को यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

उनके वक्तव्य में एक अनुच्छेद है, जिसमें उन्होंने गर्व के साथ घोषित किया है कि वे सत्याग्रहियों की उस परम्परा के अधिकारी हैं जिनमें ईसामसीह से लेकर सुकरात तक महाविभूतियां हुई हैं, जिन्होंने सत्य पर अड़े रहकर बलिदान किये हैं :

“अदालतों के अन्यायों की एक अनन्त सूची है और इतिहास ने न्याय की ऐसी हत्याओं पर अब तक मसिया पढ़ना (शोक-गीतों का गाना) समाप्त नहीं किया । उस नामावली में ईसामसीह जैसी पवित्र आत्माओं के नाम पाये जाते हैं, जिन्हें विदेशी अदालत के सामने जघन्य अपराधियों के रूप में खड़ा होकर दण्डाज्ञा सुननी पड़ी थी । उसी नामावली में सुकरात का भी नाम है, जिन्हें अपने युग के महा-सत्यवादी पुरुष होने के जुर्म में विषपान करने का दण्ड मिला था । उस पूज्य नगरी फ्लोरेण्टीन के सत्य के शहीद-अन्वेषक गेलिलियो का भी नाम उसी फहरिस्त में है; जिन्होंने अपने अन्वेषण और अनुसंधान के नतीजों को भ्रष्ट करने से इन्कार कर दिया था; क्योंकि, ऐसे नतीजों का सम्वर्जनिक प्रचार नियमबद्ध सरकार की दृष्टि में अपराध था । मैं जब ऐसे अपराधियों के कटघरे के उस महान् और महत्वपूर्ण इतिहास पर मनन करता हूँ और, देखता हूँ कि आज मुझे उसी कटघरे में खड़ा होने का सौभाग्य और सम्मान मिल रहा है तो मेरी आत्मा ईश्वर की महिमा और प्रशंसा में उन्नत हो उठती है ।”

इसके बाद वे संयत असन्तोष फैलाने की निर्विकार रूप से परिभाषा करते हैं—

“हिन्दुस्तान की नौकरशाही उस सत्ता से न तो किसी कदर कम है न ज्यादा, जिसको बलशाली व्यक्ति राष्ट्र की निजी अवहेलना और आन्तरिक शक्तिहीनता से अशक्त किसी देश पर सामान्यतः पाते रहेंगे । साधारण रूप से ऐसी सत्ता राष्ट्रीय जागृति को अथवा उन्नति के लिए उठाये आन्दोलन, सुधार या न्याय को बर्दाश्त नहीं कर सकती । क्योंकि ऐसा आन्दोलन तो उसके अपने आधिपत्य को एकदम मिट्टी में मिला देता है और इसीलिए वह ऐसे तमाम आंदोलनों को नियमबद्ध सत्ता के विरुद्ध अपराध घोषित करके कुचलने का प्रयोजन करती है । कोई भी सत्ता ऐसे आन्दोलनों के सामने खामोश होकर हाथ न जोड़ेगी, जिसके

कारण उसको अपने पतन का डर हो, फिर चाहे ऐसा पतन अन्ततोगत्वा कितना ही न्याय के पक्ष में क्यों न हो। यह परिपाटी अपना अस्तित्व कायम रखने का संघर्ष मात्र है जिसमें दोनों दल अपने-अपने तत्व के लिए जी जान से लड़ते हैं। जागृत राष्ट्र ऐसी बात को प्राप्त करने की आकांक्षा करता है, जिसको वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है और प्रभुता प्राप्त सत्ता अपने अपनाये निर्विवाद मार्ग के स्थानसे एकद्वेष भी सरकने की कल्पना तक नहीं कर सकती। ऐसी दलील पेश की जा सकती है कि प्रभुता प्राप्त सत्ता पर भी अपने विरोधियों के समान दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि, वह सिर्फ अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए लड़ रही है, और यह एक बिल्कुल आकस्मिक बात है कि उसका अस्तित्व न्याय को चलाने में बाधक हो रहा है। हम मानवी स्वभाव और उसके अनिवार्य लक्षणों से इन्कार नहीं कर सकते। अच्छाई के समान बुराई भी इस ससार में जीवित रहने की आकांक्षा करती है और वह अपने अस्तित्व के लिए जूझती है। भारत में वीर भोग्या वसुधरा का संग्राम प्रारम्भ हो चुका है। इसलिए बिल्कुल सही मानों में, ऐसी सत्ता के विरुद्ध जो आजकल कायम है, ऐसे आन्दोलन से बढ़कर दूसरा अपराध नहीं हो सकता जिसमें स्वतन्त्रता और न्याय के नाम पर उस सत्ता के असीमित अधिकार का अन्त करने का प्रयोजन होता हो। मैं इस बात को मानता हूँ कि मैं न केवल ऐसे आन्दोलन का दोषी हूँ, बल्कि मैं उन अग्रगण्यों की टोली में हूँ, जिन्होंने अपने राष्ट्र के दिल में ऐसे आन्दोलन के बीज सर्व-प्रथम बोये हैं और जिन्होंने इस सयत असन्तोष को फैलाकर प्रसन्नता से अपना अस्त जीवन अर्पण कर दिया है।”

आगे वे किसी भी राष्ट्र पर विदेशी सत्ता की बुराई का वर्णन करते हैं—

“मेरा विश्वास है कि स्वतन्त्रता मनुष्य का स्वाभाविक और ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है। न किसी मनुष्य को न मनुष्यों से बनी किसी नौकर-शाही को ईश्वर के सेवकों को दास बनाने का अधिकार है। पराधीन और गुलाम बनाने के लिए किसी भी लुभावनी और लच्छेदार दलीलें क्यों न ढूँढ़ निकाली जाय, फिर भी गुलामी ही है और वह ईश्वरी इच्छा और नियमों के विरुद्ध है। इसलिए अपने राष्ट्र को पराधीनता से मुक्त करना अपना परम-कर्तव्य समझता हूँ। ‘सुधार’ और ‘क्रमागत सत्ता सौंपने’ की

झूठी दलीलें मेरी विशुद्ध और निश्चित निष्ठा में न कोई भ्रम पैदा करती हैं, न रोड़े घटका सकती हैं। स्वतंत्रता मनुष्य का प्रथम अधिकार है, अतः उसके वितरण में बन्दर-बांट करने के लिए अब्बा उसकी सीमाएं निर्धारित करने के लिए किसी को वैयक्तिक अधिकार नहीं है। यह कहना कि कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता क्रमागतरूप में ले सकता है, यह उसी तरह कहने के अनुसार है कि कोई मालिक अपनी सम्पत्ति को सिर्फ धीरे-धीरे वापिस ले सकता है और महाजन अपना कर्जा कितने में ...। जिस किसी मनुष्य ने हमारी सम्पत्ति को हड़पा है उसके द्वारा कितने ही परोपकार के काम क्यों न हुए हों, फिर भी सम्पत्तिका हड़पना—हड़पना ही कहलायेगा और उसे नाजायज़ ही कहा जायगा।

“बुराई का वर्गीकरण अच्छे और खराब में नहीं हो सकता। अधिक-से-अधिक इसमें निरपेक्ष भाव से कुछ संभव है तो वह सिर्फ इसकी मात्रा में अन्तर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं, बहुत ही निकृष्ट चोरी और कम निकृष्ट चोरी; लेकिन क्या कोई यह कह सकता है कि अच्छी चोरी और बुरी चोरी? इसलिए ऐसे आधिपत्य के किसी इन्सान की मैं बिल्कुल कल्पना नहीं कर सकता; क्योंकि उसके स्वभाव से ही उसमें ना-इन्साफी है।”

इसके बाद खिलाफत के अर्थ तथा मुसलमानों के कर्तव्य की घोषणा है :

“मनुष्य और भारतीय के नाते मेरा ऐसा ही कर्तव्य है और धार्मिक आदेशों ने मेरे सुपुर्द यही काम किया है। वस्तुतः मेरे विचार में मेरे धर्म के सत्य का सबसे बड़ा प्रमाण है कि मानवी अधिकारों की शिक्षा के लिए दूसरा नाम है। मैं मुसलमान हूँ, और मुसलमान होने के नाते यह मेरा धार्मिक कर्तव्य बन गया है। इस्लाम ऐसे सर्वाधिपत्य को कभी नियमबद्ध नहीं मानता जो वैयक्तिक हो अथवा मुट्ठीभर बैतनिक कर्म-चारियों से बनी हुई एक नौकरशाही इस्लाम स्वतन्त्रता और प्रजातंत्र की परिपूर्ण प्रणाली है। वह मानव-लोक में इसलिए प्रचलित की गई है कि वह मानव जाति से छीनी हुई स्वतंत्रता को उसे फिर से दिलावे। राजा, विदेशी सत्ता, स्वार्थी पादरी, मुल्ला, पुजारी और अन्य शक्तियों के गिरोहों ने मनुष्य की स्वतंत्रता समान रूप से हड़पी है। ये सब ऐसी चारणाओं में डूब कर आनंद ले रहे थे कि शक्ति और सम्पत्ति से ही

सर्वोच्च अधिकार मिलते हैं। लेकिन जैसे ही इस्लाम का अवतरण हुआ, उसने घोषित किया कि सर्वोच्च अधिकार शक्ति नहीं; बल्कि स्वयं अधिकार है। परमात्मा की सन्तान को दास अथवा अर्धदास बनाने का परमात्मा के सिवा और किसी को अधिकार नहीं है। सब मनुष्य समान हैं और उनके मौलिक अधिकार भी बराबर हैं। वही औरों से बड़ा है, जिस के काम सबसे ज्यादा पुनीत हैं।”

“इस्लाम के पैगम्बर और खलीफा की सर्वोच्च सत्ता लोकतन्त्रिक गुण की एक परिपूर्ण भावना थी और राष्ट्र की वह इच्छा मेल, मताधिकार और चुनाव से ही फलीभूत हो सकती थी। यही कारण है कि प्रजातन्त्र के अध्यक्ष या सर्वोच्च अधिकारी का पद एक मनोनीत खलीफा के समान है। खिलाफत का अक्षरशः अर्थ प्रतिनिधि है, उससे न वह कम है न अधिक। इसीलिए एक खलीफा जो भी सत्ता धारण करता है वह अपने प्रतिनिधि की हैसियत से। उसके प्रतिनिधि की सत्ता के बाहर उसका कोई अधिकार नहीं।”

“फिर अगर इस्लाम यह परिभाषा करता है कि मुसलमानों को ऐसे मुसलिम-शासन को भी नैतिक रूपसे मानने से इन्कार कर देना चाहिए, जिस शासन में, राष्ट्र के मताधिकार और इच्छा को सम्पूर्ण रूप से उपयोग करने का अधिकार न हो, तो यह कहना बेकार है कि विदेशी नौकरशाही के बारे में इस्लाम का क्या निर्णय है। अगर आज हिन्दुस्तान में इस्लामी सरकार होती, लेकिन, उसकी शासन-प्रणाली की बागडोर एक स्वेच्छाचारी नरेश अथवा नौकरशाही के हाथों में होती, तो एक मुसलमान के नाते मेरा जन्मसिद्ध अधिकार होता कि मैं ऐसे सरकार के अस्तित्व के विरुद्ध अपनी आवाज उठाऊँ। मैं उस सरकार को भी अत्याचारी कहूँ और उसके हटाने की माग करता हूँ।”

“मैं यह साफतौर से मानता हूँ कि इस्लामी सत्ता की मूल कल्पना को स्वार्थ और आगे आनेवाले मुसलमान शासकों की वैयक्तिक प्रधानता की लालसा की वजह से वह अपनी असली पवित्रता को समान रूप से निभा न सकी। प्राचीन रोम के बादशाह और ईरान के शाहों की भव्य चौक-दमक ने मुसलिम सत्ताधारियों को बड़े-बड़े सम्राटों के साम्राज्यों के अत्यायी और अनिश्चित गौरव की तरफ आकर्षित किया था। वे क्रैसर

और खुसरो के शाही डीलडीलों को, पुराने चिथड़े पहनने वाले शुरु के खलीफों के सादे रहन-सहन से अधिक पसन्द करने लगे थे। इस्लाम के वंश और सत्ताधारियोंका ऐसा कोई काल नहीं गया जिसमें सच्चे मुसलिम शहीदों को पैदा न किया हो, जिन्होंने ऐसे बादशाहों के अत्याचार और अनधिकार चेष्टाओं का सार्वजनिक रूप से पर्दाफाश करके सभी यातनाएं और यंत्रणाओं को खुशी और गौरव से न सहा हो, जो कर्तव्य के कंटकित मार्ग में अनिवार्य रूप से आती हैं।”

“पाक पैगम्बर ने मुसलमानों के लिए निम्नलिखित सिद्धांत की शिक्षा दी: ‘वह पुरुष धन्य है जो अत्याचारी शासन के विरोध में सच्चाई का डंका बजाकर मृत्यु का आलिगन करता है और ऐसे पुनीत कार्य के फल-स्वरूप सज़ा पाकर कत्ल कर दिया जाता है। उसी की आत्मा हुतात्मा कहलाती है।’ इस्लाम के पवित्र ग्रंथ कुरानशरीफ में सच्चे मुसलिम होने को परिभाषामें कहा है कि वे ईश्वर के सिवा किसी से नहीं डरते और वे जहा-जहा सत्य को समझते हैं, वहा-वहा ऐसे सत्य की सार्वजनिक घोषणा करने में किसी सत्ता या अधिकार की परवाह नहीं करते।’ आगे कुरान-शरीफ में मुसलमानों के राष्ट्रीय लक्षणों के बारे में इस प्रकार की परिभाषा है: ‘वे परमात्मा की धरती पर सत्य के पक्ष में गवाह हैं। इसलिए जबतक वे मुसलमान बने रहते हैं, तबतक ऐसी सार्वजनिक गवाही देने से पीछे नहीं हट सकते। वस्तुतः मुसलमान गवाह के नाम से ही पुकारे जाते हैं, अर्थात् वे सत्य की शहादत करने वाले हैं। इस्लाम के पैगम्बर जब कभी किसी से सदाचार का वचन लेते थे तब उस वचन की एक शर्त यह भी होती थी कि, ‘किसी भी हालत में मेरा चाहे जो हो, मैं सदा सत्य की घोषणा करता रहूंगा ...’।’

“मुसलमानों के अपने राष्ट्रीय इतिहास में सच बोलने का एक महत्वपूर्ण पाठ है। इस पाठ में यह बताया गया है कि एक स्वेच्छाचारी नरेश ने बिद्रोही अपराधी के शरीर का प्रत्येक अंग काट-काट कर अलग कर देने का आदेश दिया था। अपराधी का अभियोग था कि उसने अत्याचारी के अन्याय की घोषणा की थी। जब उसके अंग-प्रत्यंग को काट-काटकर अलग किया जाने लगा, तब वह अड़िग चट्टान की तरह खड़ा होकर सज़ा को बर्दाश्त करता रहा। लेकिन, उसकी जबान उस

घड़ी तक बराबर कहती रही कि स्वेच्छारी अत्याचारी है, जबतक उसे काटकर न फेंक दिया गया। यह घटना सम्राट् अब्दुल मलिक के शासन काल की है, जिसका राज्य स्याम (Sywa) से लेकर सिंध तक फैला हुआ था। फिर ऐसी भयानक सजा के सामने दफा १२४ अ के प्राचीन दी जानेवाली सजा को क्या कोई महत्व दिया जा सकता है? मैं यह मानता हूँ कि मुसलमानों के नैतिक पतन और उनके द्वारा इस्लामी शिक्षा को तिलाजलि देने के कारण वे इस अधोगति को प्राप्त हुए हैं।”

“मैं यह जानता हूँ कि जिस समय इन पक्तियों को लिख रहा हूँ, उस समय भी हिन्दुस्तान के अन्दर ऐसे बहुत से मुसलमान वास कर रहे हैं, जो इसी अत्याचार के प्रति अपनी श्रद्धाजलि चढ़ाते हैं। लेकिन मनुष्य के किन्हीं सिद्धान्तों के भावों के अनुरूप न चलने से, उन सिद्धान्तों के मौलिक सत्य की महत्ता घट नहीं सकती।”

“इस्लाम के सिद्धान्त उसके अपने पवित्र ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। ये मुसलमानों को किसी भी अवस्था में स्वतन्त्रता को तिलाजलि देकर जीवन का आनन्दमय उपभोग करने की अनुमति नहीं देते। एक सच्चे मुसलमान को या तो अपने सर्वस्व की बलि चढ़ानी होती है अथवा स्वतन्त्रता को कायम रखना होता है। अपने धर्म की छत्रछाया में रहते हुए उसे दूसरा मार्ग ही नहीं है। आज मुसलमानों ने पक्का निश्चय कर लिया है कि वे अपने राष्ट्र को दासता से मुक्त करने में हिन्दू, सिक्ख, पारसी और ईसाई भाइयों के साथ मिलकर अपना पूरा योग देंगे।”

“मैं पिछले बारह वर्षों से लगातार अपने सम्प्रदाय और देश को उनके अपने अधिकार और स्वतन्त्रता की माग करने की शिक्षा देता आया हूँ। मैं जब अठारह वर्ष का था तब से इस विषय पर लिखता और बोलता आया हूँ। मैंने इसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। और जवानी के रगीन दिनों की बलि चढ़ा दी है—अर्थात् इस आदर्श के पीछे पागल होकर मैंने अपनी सम्पूर्ण जवानी बिता दी है। चार वर्ष तक मैंने नज़रबन्दी की यातनाएँ सही हैं। लेकिन, इस नज़रबन्दी की अवस्था में भी मैं अपने कार्य की प्रगति करने से और इस राष्ट्रीय ध्येय की ओर लोगों को आकर्षित करने से कभी पीछे नहीं हटा। मैंने इसको

अपने जीवन का ध्येय बना लिया है और अगर मैं जीवित रहूँगा तो इसी एक हेतु के लिए जीवित रहता पसन्द करूँगा। जैसा कि, कुरानशरीफ में लिखा है—मेरी प्रार्थनाएँ, मेरा जीवन-कार्य, मेरा जीवन और मरण सब मेरे उस प्रभु की सेवा में हैं, जो जगत् का परम-पिता है। मैं हिन्दु-स्तान के अन्दर उस इस्लामी आन्दोलन के हाल के चरण का सबसे पहला अग्रगामी हूँ, जिसने भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक विचारों में एक भीषण क्रान्ति पैदा कर दी है और धीरे-धीरे उन्हें राष्ट्रीय जागृति की उस चोटी पर पहुँचा दिया जहाँ वे आज दिखाई दे रहे हैं। सन् १९१२ में मैंने 'अल-हिलाल' नाम का उर्दू पत्र निकाला जो इस आन्दोलन का मुख-पत्र था और जिसके प्रकाशन का उद्देश्य विशेषतः यही था जिसकी मैंने ऊपर घोषणा की है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि भारतीय मुसलमानों के धार्मिक और राजनैतिक जीवन में उसने एक नये वातावरण का निर्माण किया था।”

“स्वतन्त्रता और न्याय के इस सप्राप्त में मैंने अहिंसात्मक असहयोग का पक्ष ग्रहण किया है। इसके विरुद्ध अत्याचार ज्यादाती और खून बहाने के लिए ऐसी सत्ता खड़ी है जो अस्त्र-शस्त्रों से पूर्णतया सज्जित है। लेकिन ईश्वर के बाद, केवल अपने बलिदान की असीमित शक्ति और संकल्प की दृढ़ता पर ही हमारा भरोसा और विश्वास है।”

“महात्मा गांधी के समान ही मेरा विश्वास है कि सशस्त्र शक्ति का विरोध सशस्त्र शक्ति से कभी नहीं किया जा सकता। मेरा विश्वास यह भी है कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना उन परिस्थितियों में ईश्वर के नैसर्गिक नियमों के बिल्कुल अनुरूप होता है जिन परिस्थितियों में इस्लाम ऐसी हिंसा का प्रयोग करने की अनुमति देता है। लेकिन साथ-ही-साथ, भारत को स्वतन्त्र करने के और वर्तमान आन्दोलन को चलााने के पक्ष में महात्मा गांधी की सभी दलीलों से मैं पूर्णतया सहमत हूँ और मुझे उनकी सन्वाई में पूरा विश्वास है। मेरी यह पक्की धारणा है कि शस्त्रों के प्रयोग से हिन्दुस्तान को सफलता नहीं मिल सकती, न उसके लिए इस उपाय का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। केवल अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा हिन्दुस्तान विजयी हो सकता है और हिन्दुस्तान की विजय नैतिक बल की विजय के उदाहरण के रूप में स्मरणीय होगी।”

इस्लाम की लोकतंत्री भावना के सम्बन्ध में, अपने वक्तव्य में प्रदर्शित मौलाना के स्पष्ट विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और मुसलमानों के उन कुछ वर्तमान नेताओं के वक्तव्यों से तुलना करने योग्य हैं, जो कहते हैं कि लोकतन्त्र इस्लाम के नैसर्गिक स्वभाव के प्रतिकूल है। मौलाना घोषित करते हैं कि इस्लाम यह परिभाषा करता है कि मुसलमानों को ऐसे मुसलिम शासन को भी नैतिक रूप से मानने से इन्कार कर देना चाहिये, जिस शासन में राष्ट्रीय मताधिकार और इच्छा को सम्पूर्ण रूप से उपयोग करने का अधिकार न हो। यह वक्तव्य मातृभूमि की सेवा के लिए उस समर्पण की भी घोषणा करता है जो अठारह वर्ष की अवस्था में किया गया था और अब भी वह पूर्णता की ओर गतिशील है।

समय का चक्र

वे वस्तुतः गौरवशाली दिन थे । हिन्दू और मुसलमान इस बात को मान चुके थे कि नई आशा और मेल के सदेश के साथ परमात्मा की कृपा से उन्हें सगे भाइयों के समान आपस में मेल करने के लिए तथा स्वराज्य के सिपाहियों की हैसियत से दीक्षा लेने के लिए, जलियानवाला बाग की पवित्र भूमि पर हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों का रक्त मिश्रित हुआ था । इसीलिए, जब गांधी ने कभी अली-बन्धुओं के साथ, और कभी मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के साथ, तो कभी, अन्य मुसलिम नेताओं के साथ समस्त देश का दौरा किया था, तब मुसलिम जनता की वह बेरुखी, जो राजनीति तथा राजनैतिक कार्य के प्रति थी, जाती रही थी । वे सेवा और त्याग के छोटे-छोटे कामों में तथा मेज़-मुहब्बत के आश्चर्यजनक और मोहक कार्यों में आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगे थे । जो कट्टर तथा रुढ़िवादी हिन्दू अपने भोजनान्धों में इसके पहले अपनी जात-बिरादरी वालों के सिवा दूसरों को घुसने नहीं देते थे, वे मुसलमान नेताओं को छाती से लगाकर, उनका सम्मान करने लगे थे और उन्हें अपने-अपने घरों में बुलाकर साथ-साथ भोजन करने लगे थे । जो पर्दानशीन मुसलिम महिलाएँ सार्वजनिक सभा में कभी नहीं जा सकती थी, और जो इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकती थी कि उनकी सभा में कोई नेता-पुरुष आकर बोले, वे अब विराट सभाओं में जुटने लगी थी और महात्मा गांधी को उनका उपदेश सुनने के लिए निमन्त्रित करने लगी थी । उन दिनों एक बिलकुल अविस्मरणीय दृश्य देखने में आता था, जबकि मौलाना मुहम्मदअली, शीकतअली, तथा अन्य मुसलिम नेता अपनी-अपनी आंखों पर पट्टी बांधकर इन सभाओं में जाया करते थे, जिनमें पुरुष-

प्रवेश सामान्यतः निषिद्ध होता था। वे कहती थी कि गांधीजी इतने सात्विक और पवित्र पुरुष हैं कि वे जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। उनके लिए सभी स्त्रियाँ बहने और पुत्रियाँ थी, इसीलिए मुसलिम महिलाएँ भी उन्हें अपने बीच में पाकर सहमती न थी। लेकिन, दूसरों को और अपने सहघर्षी मुसलिम नेताओं को भी, वे ऐसा न समझती थी। उन्हें वे त्रुटियाँ करने वाले साधारण मानव समझती थी, इसीलिए वे आखे मीचकर इन बहनों की सभा में जा सकते थे। हिन्दू-मुसलिम प्रेम-भाव की चरम परिणति तो तब हुई थी, जबकि, हिन्दुस्तान के कोने-कोने में मुसलमानों ने न केवल गोमास से परहेज करना शुरू कर दिया था, बल्कि ईद के शुभ अवसर पर भी गाय का वध करना बन्द कर दिया था। गांधीजी अपने सार्वजनिक भाषणों में तथा बहुत से लेखों में घोषित कर चुके थे कि “बगैर किसी लेनदेन अथवा पारितोषिक के हमें अपना परम-कर्तव्य समझना चाहिए कि हम खिलाफत रूपी गायकी रक्षा करके अपने मुसलिम भाइयों की सहायता करें। इससे हमारी गो-माता की रक्षा अपने आप हो जायगी। मुसलमान इस सिलसिले में अपने कर्तव्य के बारे में स्वयं सोच सकते हैं।” गांधीजी के इन वचनों का मुसलमानों के दिल पर इतना असर हुआ था कि मुसलमानों के अन्दर ऐसे-ऐसे नेताओं की संख्या कम न निकली थी; जिन्होंने गोमास खाना स्थगित कर दिया था, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने कई जगहों में उन गायों को बचा लिया था, जो अज्ञानता के कारण मार दी जाती।

राजनैतिक जागृति भी अति उच्च सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसकी परीक्षा तब हुई जब लार्ड रीडिंग के निमंत्रण पर कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता करने के प्रस्तावों पर सोच-विचार करने के लिए एक गोलमेज कान्फेंस हुई थी। इस कान्फेंस में जो ज़िद पैदा हो गई थी वह इसी बात पर थी कि अलीबन्धु और खिलाफत के अन्य बन्दियों की मुक्ति पर जोर दिया गया था। वस्तुतः कान्फेंस इस लिए बुलाई गई थी कि, प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर कांग्रेस द्वारा घोषित बहिष्कार से पैदा हुए संकट को टाला जाय। उस समय यदि हमारी सभी शर्तें मान भी ली गई होती तो भी उससे ठोस परिणामों की अधिक गुंजाइश न थी। लेकिन, गांधीजी और अन्य हिन्दूनेता खिलाफत-बन्दियों की

मुक्ति की मांग पर झड़े हुए थे। उनका कहना था कि उनकी अनुपस्थिति में समझौते के किसी भी प्रस्ताव पर बहस बेकार है। इसका परिणाम यह हुआ था कि देशबन्धुदास, मौलाना आजाद तथा उन हजारों देशभक्तों को, जो जेल गये थे, पूरी सजा काटे तक जेलों में रहना पड़ा था।

गांधीजी के जेल जाने से तथा आन्दोलन के शिथिल हो जाने से लोगों का हौसला टूट चुका था। लेकिन, आन्दोलन के शिथिल पड़ जाने का कारण गांधीजी का जेल जाना न था, बल्कि सर्वोच्च अवज्ञा का स्थगित करना था। रचनात्मक कार्यक्रम की अपील को जनता ने अनसुना किया। सब-के-सब राजनैतिक नेता जेलों में बन्द थे और साम्प्रदायिक नेता, जो आन्दोलन की सरगर्मी के समय चुपचाप बैठे थे, मैदान में आये। सरकार, जो हमारी कमजोरी से अधिक-से-अधिक फायदा उठाने के लिए सदा तैयार रहती है, इनमें से कुछ को अपने हाथ का खिलौना बनाने में सफल रही। जिस 'भेद करो और शासन करो' की नीति को १९१९-२२ के काल में काफी धक्का जग चुका था, वह अब फिर से चेत चुकी थी और स्वार्थी दलों ने नासमझ लोगों की पारस्परिक संकुचित शकाओं को उभाड़ा। लेकिन, दोष सरकार के मत्थे मढ़ना बेकार है। पण्डित जवाहरलाल ने कहा है - "सदा से साम्राज्यों की नीति भेद करो और शासन करो की रही है। इस नीति द्वारा प्राप्त सफलता से ही, जिनका वे शोषण करते हैं उन पर उनकी पाई हुई सफलता को नापा जाता रहा है। इसकी हम कोई शिकायत नहीं कर सकते, या कम-से-कम हमें इस पर आश्चर्य न कच्चा चाहिए। इससे मुह मोड़ लेना और उसका प्रति-कार करने के कोई उपाय न सोचने के विचार में ही दोष है।"

खैर, जो भी हो, सन् १९२९ के बाद गांधीजी जब जेल से मुक्त हुए तो उन्होंने देखा कि, 'भेद करो और शासन करो' की नीति फूल और फल रही है और बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि जो साम्प्रदायिक मेल कायम हुआ था उसमें तथ्य न था। क्योंकि, वह दरअसल दिल से किया हुआ मेल न था। गो-वध को हिन्दुओं द्वारा जबरदस्ती से रोकने का प्रयत्न दंगाफ़साद और रक्तपात के लिए पर्याप्त था। उनका बाजे के साथ मसजिद के सामने से जलूस ले जाना भगड़े का बहाना बन

जाता था। यूँ तो हर नगर और कस्बे के कोने-कोने में मसजिदें हैं, जिनमें रोज पाँच दफ़ा नमाज़ पढ़ी जाती है और इनके आसपास जलूसों तथा अन्य बातों से शोरगुल होना अनिवार्य है। लेकिन भगड़ों को रोकने के लिए आवश्यकता थी प्रेम, सद्भाव और सहिष्णुता की। लेकिन, कुछ बातें ऐसी हो गई थी जिनके कारण भाईचारे की भावना जनता के दिल से एकदम जड़ से उखड़ चुकी थी। अहिंसा का अंधविश्वास समाप्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में बलप्रयोग के अलावा कोई हल उन्हें पसन्द न आता था।

कुछ प्रांतों में इसका कारण आर्थिक था। एक मंत्री अपने विभाग में अपने ही सहधर्मियों को लाने पर तुल जाता था, जिससे दूसरे सम्प्रदाय के दिल में भय और शका पैदा हो जाती थी। इसलिए स्वभावतः तनातनी और बढ़ जाती थी। क्रोधित मुसलिम-रैय्यत और कर्जंदार हिन्दू-जमींदार और महाजन के विरुद्ध भड़कानेवाली बातें सुनते थे, जिनके परिणामस्वरूप बहुत-सी जगहों में साम्प्रदायिक प्रश्न के स्थान में शुद्ध आर्थिक प्रश्न पर झगड़े हो जाते थे।

एक धर्म के कठमुल्ला, दूसरे के धर्म पर प्रहार करते थे और बिना साँचे-विचारे दूसरे सम्प्रदाय के स्त्री-पुरुषों को अपने धर्म में शामिल करने की तजवीज़ पेश करते थे। मुसलमान तबलीग के अधिकार की घोषणा करते थे तो हिन्दू गुढ़ि के अधिकार की। धर्म-परिवर्तन के ये प्रयत्न लगातार भगड़ों-पर-भगड़े खड़े कर दिया करते थे, जिनसे भीषण-से-भीषण उत्पात होते थे। समाचारपत्र और पुस्तिकाएँ एक दूसरे के प्रति गाली-गलौज और भद्दे प्रचार के साधन बने हुए थे। इनके कारण भी बहुत-सी जगहों में दंगेफसाद हो रहे थे।

गांधीजी जब जनवरी सन् १९२४ में जेल से मुक्त हुए, तब उनके स्वागत के लिए इस प्रकार का वातावरण तैयार था। शायद ही कोई पल्लवारा आता था, जब कहीं-न-कहीं से दंगे फसाद की खबर न आती हो। मुलतान, सहारनपुर, आगरा, अजमेर, पलवल और अन्य बहुत से स्थानों में बड़े भीषण दंगे हुए, जिनमें आग लगाई गई, लूटमार मचायी गयी, सम्पत्ति का विनाश किया गया तथा पवित्र स्थानों को अश्रु किया गया।

कुछ हिन्दुओं ने इन सबका दोष गांधीजी के मत्थे मढ़ा। उन्होंने

कहा—“आपने खिलाफत के प्रश्न पर हमें मुसलमानों का साथ देने के लिए कहा। इससे मुसलमानों में एका हुआ और उनके अन्दर जागृति आई। अब खिलाफत खत्म हुई और जागृति प्राप्त मुसलमानोंने हम लोगों के विरुद्ध जहाद (धर्म युद्ध) की घोषणा की।” मुसलमानोंने कहा—“हम सरल-हृदयी आदिमियों के साथ अन्याय का व्यवहार किया जा रहा है। तुम लोगों ने आन्दोलन करके मुहम्मदअली को हमसे छीनकर अपने में मिला लिया, और सर सैय्यद अहमद द्वारा अति परिश्रम से बनाई हुई अलीगढ़-संस्था पर तुम प्रहार करते जा रहे हो। तुम्हारे कौन्सिल बहिष्कार ने हमारे योग्य-से-योग्य नेताओं को कौन्सिल में जाने से रोका, जिससे हमारे सम्प्रदाय का काफी नुकसान हुआ है।” गांधीजी ने हिन्दू-मुसलिम तनातनी पर लिखे हुए अपने ऐतिहासिक लेख में इनके कारणों का विश्लेषण किया, उपाय सुझाये और घोषित किया कि उन्होंने जो कुछ किया उसके लिए उन्हें किसी तरह का पश्चाताप नहीं है। और कहा, “अगर मैं पैगम्बर होता और यह सब जो कुछ हुआ है उसको पहले से ही जान लेता, तब भी मैं खिलाफत आन्दोलन में पूरा-पूरा हिस्सा लेता। जनता की जागृति शिक्षा का एक अनिवार्य भाग है। यह एक बड़ी भारी सफलता है। लोगो को फिर से निष्क्रिय अचेत करने के लिए मैं कुछ न करूंगा।” लेकिन यह लेख नाना प्रकार के सवालोंने और जवाबों का कारण बना और वस्तुतः इससे किसी को भी लाभ न हुआ। इसके थोड़े ही दिनों के अन्दर अमेठी, संभल और गुलबर्गा में मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को भ्रष्ट किया जिसके परिणाम-स्वरूप भयानक दंगे हुए। इन दंगों को कोहाट के अत्यन्त भीषण दंगों ने मात दे दी; जिसमें निर्दयता के साथ लाखों रुपयों की सम्पत्ति फूंक दी गई।

गांधीजी तिलमिला उठे। उनके अपने ही शब्दों में अमेठी, संभल और गुलबर्गा के दंगों ने उन्हें “बुरी तरह हिला दिया।” और “कोहाट की खबरों ने तो घीमी-घीमी जलने वाली आग को एकदम भभका दिया। मैंने दो रातों तो बेचैनी और वेदनाओं में गुजारी।” बुधवार ता० १८ सितंबर १९२४ को उन्हें इलहाम हुआ और उपाय सूझा। उन्होंने घोषित किया, “मुझे पश्चाताप करना चाहिये। मेरा पश्चाताप अनजाने में किये पाप की क्षमा-याचना के लिए एक घायल हृदय की प्रार्थना है। एक-

दूसरे के धर्म को बुरा-भला कहना, अनापशानाप वक्तव्य निकालना, गलत-सलत बातें बकना, सीधे-सादे आदमियों की खोपड़ियां फोड़ना, मन्दिर अथवा मसजिदों को भ्रष्ट करना ईश्वर की सत्तासे इन्कार करना है।” उन्होंने २१ दिन का उपवास करने का निश्चय किया।

इस निश्चय ने समस्त देश में एक चिन्ता की लहर दौड़ा दी। देश के कोने-कोने से उनके मित्र दिल्ली में इकठ्ठा हुए, जहाँ वे उपवास कर रहे थे और पण्डित मोतीलाल नेहरू ने उस मिलाप-सम्मेलन का अध्यक्ष-स्थान ग्रहण किया जो साम्प्रदायिकता की समस्त समस्या पर विचार करने और उस पर हल सुझाकर उस हल को देश के समक्ष रखने के लिए हो रहा था। इस सम्मेलन में डेढ़ सौ से अधिक हिन्दू और मुसलमान नेता कई दिनों तक मंत्रणा करते रहे और उन्होंने कई प्रस्ताव भी पास किये। लेकिन सम्मेलन में सच्चे पश्चाताप का कोई प्रदर्शन न था, जिसकी गांधीजी कामना करते थे, और ऐसा मालूम होता था कि बगैर किसी ठोस नतीजे पर पहुँचे ही सम्मेलन भग होगा। इस सम्मेलन में कलकत्ते के लाट पादरी भी निमंत्रण पाकर उपस्थित हुए थे। इनका किसी पक्ष से कोई स्वार्थ न था, अतः इनकी राय तो निष्पक्ष राय ही समझनी चाहिये। उन्होंने कहा था—“दोनों में से एक भी दल एक-दूसरे द्वारा सद्भावना के प्रदर्शनो पर विश्वास करने में असमर्थ दिखाई दे रहा था तथा एक-दूसरे की उदारता को और अधिक ठोस सहूलियत प्राप्त करने के हेतु-फेंके हुए प्रलोभन के टुकड़े की हैसियत से देख रहा था।” विरोधी पक्षों की ओर से शर्तें और प्रतिशर्तें पेश की जा रही थी और ऐसा मालूम दे रहा था कि ये लोग एक-दूसरे से सौदा करने के लिए एकत्रित हुए हैं, हार्दिक मिलाप के लिए नहीं।

“लेकिन, उन नेताओं में जिन्होंने गंभीरता के भाव को फैलाने और यहां तक कि उस आदमी के लिए जिसने धर्म को तिलाजलि देकर पशुता का चोला उतार कर फेंक दिया है—पश्चाताप प्रदर्शित करने में जान से प्रयत्न किया वे, केवल अग्रगण्य न सही, एक अग्रगण्य नेता मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद थे। वे सम्मेलन में पक्का इरादा करके आये थे। उन्होंने कहा था “जिस किसी भी पक्ष की मांग को अगर वे निर्विवाद रूप से स्वीकृति और समझ के बाहर समझेंगे उसके लिए वे कोई रिश्तायत देने

के लिए तैयार न होंगे, फिर चाहे पक्षविशेष की दृष्टि में वह मांग कितनी ही उचित क्यों न हो। और वे सत्य की घोषणा में कोई बात उठा न रखेंगे, चाहे वह सत्य कितना ही कटु और किसी के दिल को चुभने वाला क्यों न हो।” यह कहा जा सकता है कि अगर उस समय मौलाना उपस्थित न होते तो दूसरा और प्रति महत्व का प्रस्ताव पास न हुआ होता।

स्ताव की भाषा है—“सम्मेलन घोषित करता है कि बदला लेने के हेतु अथवा शिक्षा देने के हेतु कोई भी व्यक्ति अगर कानून को अपने हाथ में लेता है, तो वह न केवल कानून के; बल्कि धर्म के विरुद्ध है। अतः सम्मेलन घोषित करता है कि भगड़े की सभी बातों का गैर-सरकारी पंच-द्वारा निर्णय होगा और जहां यह संभव न हो वहां सरकारी अदालतों द्वारा।”

लेकिन इससे भी अधिक विकट मामला गोहत्या का था। इस सिलसिले में जो प्रस्ताव बनाया गया था उसमें यह बात थी कि—“हिन्दुओं को गोहत्या के अधिकार के उपयोग को बल-प्रयोग से (शारीरिक अथवा कानूनी) रोकने की प्रतीक्षा न करनी चाहिये। इसका निपटारा आपसकी अनुमति से करना चाहिये।” इस पर हिन्दुओं ने कहा—“अगर हम हिन्दू इतना झुकते हैं तो तुम मुसलामों को हमें यह आश्वासन देना चाहिये कि जिस जगह अब तक गाय काटी नहीं जाती है, उस जगह कभी काटी नहीं जायगी और गोहत्या को तुम धीरे-धीरे इतनी घटाते जाओगे कि अन्त में यह प्रथा ही मिट जाय।” यह मुसलमानों द्वारा स्वीकार किया जाना कठिन था, विशेष रूप से इस प्रस्ताव का अन्तिम भाग। परन्तु मौलाना ने परिस्थिति को बचा लिया। उन्होंने हृदय से निकली हुई अपनी मार्मिक वक्तृता से—जो औदार्य और पद्माताप से ओतप्रोत थी, बाजी धारली। इस घटना के बारे में एक ऐसे हिन्दू नेता ने, जो सम्मेलन में उपस्थित थे, लिखा है—“ये एक बहुत ही अच्छे वक्ता की हैसियत से देश में प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा इन्हें अपने सम्प्रदाय के बड़े विद्वान् और धार्मिक नेता होने का सौभाग्य प्राप्त है। इन्होंने इस अवसर पर अपनी वाग्बिम्बता से अपनी मार्मिक बेदना और सच्चाई में तथा भारत की विशेष परिस्थिति के अनुसार (जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा है); किन्तु अपने धार्मिक सिद्धान्त और व्यवहार के अनुरूप, अपनी भावना की उदारता में कमाल कर दिया है। उनकी दोनों सम्प्रदायोंके प्रति अपील से बहस

का रुख बदल गया। उन्होंने अपने सहचरियों से कहा कि इस बात को न भूलना चाहिये कि बलि के हेतु भी की गई गो-हत्या उनके धर्म का मौलिक भाग नहीं है, और उन्होंने अपने हिन्दू मित्रों को आश्वासन दिया कि मुसलमानों के अन्दर ऐसे मुसलमानों की संख्या कम नहीं; जिन्होंने न केवल कभी गो-मास छुआ है; बल्कि जो मुसलमानों में उसके प्रयोग को कम करने के प्रयत्नों में भी लगे हुए हैं और इसके पीछे अगर उनका कोई हेतु है तो केवल यही कि वे हिन्दुओं के प्रति अपने सद्भाव दर्शाएं।” इस भाषण ने मुसलमानों को हिला दिया; लेकिन, वे अन्तिम भाग को स्वीकार करने के लिए तैयार न हुए। ऐसा मालूम हो रहा था कि सम्मेलन अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रहा है। अध्यक्ष ने सम्मेलन की कार्यवाही स्थगित करदा और दोनों हिन्दू और मुसलमानों से प्रार्थना की कि वे फिर से आपस में सलाह-मशविरा करें और जो सभव हो उस पर अपने विचार स्थिर करें। कुछ देर के लिए मालूम होने लगा कि, सम्मेलन का भविष्य अंधकारमय है। अन्त में मौलाना की अपील पण्डित मदनमोहन मालवीय के हृदय के तारों को स्पर्श कर गई। वे बेचैन वातावरण के अन्दर से उठे और उन्होंने घोषणा की कि हिन्दुओं को इस बात से आपत्ति न होगी अगर गो-हत्या को सम्पूर्ण रूप से बन्द करने के शब्दों को प्रस्ताव में से निकाल दिया जाय। समस्त सम्मेलन सबसे पहली बार हर्षोल्लास के जोश में बह गया और बाकी का काम बिलकुल सरल होगया। प्रस्ताव के पहले मस्जिदों में अधिकारों पर अधिक जोर दिया गया था; अब यह बात मान लाई कि बिना जवाबदेही के अधिकारों की कोई वृत्ति नहीं हो सकती और गड़बड़ी का हल इस बात में है कि अपने-अपने अधिकारों पर जोर देने के बजाय अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने में आगे बढ़ें।

गांधीजी का उपवास समाप्त होने के पश्चात् मुसलिम नेता गांधीजी की खाट को घेरकर बैठ गये। उन्होंने धीमी आवाज में, किन्तु प्रभावोत्पादक गम्भीर वाणी में कहा—“मैं नहीं जानता कि परमात्मा की क्या इच्छा है; लेकिन आज के दिन मैं आपसे विनय करूंगा कि आपलोग इस बात का वचन दें कि आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य (हिन्दू-मुसलिम

एकता) के लिए अपनी जानतक दे दोगे।” हकीम अजमलखां और मौलाना अबुलकलाम आजाद ने इस परम संकल्प को दोहराया। अत्यन्त खेद की बात है कि आज हमारे बीच में हकीम साहब नहीं हैं, न ईश्वर-भक्त देशबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज हा मौजूद हैं, जिन्होंने उस पुनीत प्रतिज्ञा का मस्विदा बनाया था; लेकिन, परमात्मा की कृपा से मौलाना अब भी हमारे साथ हैं। हकीमजी और देशबन्धु दोनों उनके निकटतम मित्रों में से थे और वे मानते हैं कि इस संकल्प को निभाने में उन्हें जितनी गांधीजी से सहायता मिली उतनी ही उन दो स्वर्गीय आत्माओं से भी।

लेकिन जैसाकि गांधीजी ने कहा है, कार्य की पूर्ति परमात्मा के हाथों में है। उपवास के कारण बुलाये गये एकता सम्मेलन में मौलाना ने जो महाकार्य किया वह भुलाया नहीं जा सकता। मैं एक दिन मौलाना के कार्य के बारे में सहृदयी लाटपादरी से बातें कर रहा था। उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा है, जिसको मैं प्रसन्नता सहित ज्यो-का-त्यो उद्धृत कर रहा हूँ—

“मैं सन् १९२४ के शान्ति-सम्मेलन को अपने जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में देखता हूँ। उसमें बहुत-से हिन्दू और मुसलिम नेताओं से मैं मिला हूँ लेकिन उनमें से तीन या चार नेताओं की स्मृति अब भी मौजूद है। उनकी वाग्विदग्धता के कारण, जिसके द्वारा उन्होंने समझ और सहिष्णुता की भावना का प्रतिपादन किया था तथा अन्त में जिनका प्रदर्शन उन प्रस्तावों में हुआ था, अब भी मौजूद है। विषय-निर्मात्री-सभा के प्रारम्भ में प्रतिरोधी सम्प्रदायों के प्रवक्ताओं का हल्ल यह था कि वे अपने-अपने अधिकारों पर ही अधिक जोर दे रहे थे और इस बात का कोई विचार नहीं करते थे कि उनके इस रवैय्ये से दूसरों पर क्या असर हो रहा है, जिनके विपरीत मत है। बीरे-धीरे यह बात मानी जाने लगी थी कि जहाँ विचारों और धारणाओं की स्वतन्त्रता सीमित है वहाँ इसकी अभिव्यक्ति के लिए इस बात का उचित ध्यान रखना तथा इसको स्वीकार करना अनिवार्य है कि दूसरों को भी अपनी धारणाओं की ऐसी अभिव्यक्ति का समान अधिकार है। मुसलमान प्रवक्ता, जिन्होंने सम्मेलन पर विशेष रूप से अपना असर डाला

था उनमें मौलाना अबुलकलाम आज़ाद थे । मैं उनके भाषणों को बड़ी उत्सुकता से सुनता था; क्योंकि वे अनेक बातों को बगैर दोहराये बहुत ही सुलभाकर बताते थे । उनकी भाषा में अपनापन था । वे उर्दू में बोलते थे और उनके समझाने का शैली का श्रोताओं पर असर साफ-साफ दिखाई देता था । आज सोलह वर्ष बीत चुके; लेकिन उनकी भाषण-कला और विशाल हृदयता की छाप मेरे दिल पर ज्यो-की-त्यो बनी है । उनका कांग्रेस के राष्ट्रपतिपद के लिए चुना जाना उनके गुणों का और भी प्रमाण है और मैं आशा करता हूँ कि वे परस्पर विरोधी सम्प्रदायों को जो आज दूर-दूर हटते दिखाई दे रहे हैं—निकट लाने में समर्थ होंगे ।”

लेकिन हिन्दू-मुसलिम समस्या को न तो उपवास ने, और न एकता-सम्मेलन के प्रस्तावों ने ही सुलभाया । सम्मेलन में बहुत से प्रमुख नेताओं ने हिस्सा लिया था; लेकिन वे अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रतिनिधि की हैसियत से नहीं आये थे । उनमें से एक के अन्दर भी यह साहस न था कि वे लड़ाका गिरोहों को अपनी बात समझा सके । अथवा प्रस्तावों पर अमल करा सके । उपवास समाप्त होने के बाद ही जबलपुर और इलाहाबाद में दगे-फसाद हुए । १९२५ में यह दुःखद कथा देश के अन्य अनेक हिस्सों में भी दोहराई गई । उस वर्ष के मई के महीने में अवस्था यहां तक बिगड़ी कि गांधीजी को बिलकुल तिलमलाकर और एकदम निराश होकर एक सार्वजनिक सभा में घोषित करना पड़ा—

“मैंने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर ली है । एक वैद्य की हैसियत से इस बीमारी के उपचार के लिए नुस्खा तैयार करने में अपनी कमी का ज्ञान लिया है । मैं यह नहीं देखता कि हिन्दू अथवा मुसलमान मेरे उपचार को ग्रहण करने के लिए तैयार हैं और इसीलिए इस समस्या पर मैं यों ही चलते-चलते उल्लेख कर देने की सीमाओं के भीतर ही रहता हूँ और यह कहकर सतोष मान लेता हूँ कि अगर हमें अपने देश को मुक्त करना है तो हिन्दू और मुसलमानों को एक-न-एक दिन अवश्य मिलना होगा । और अगर हमारे भाग्य में यही हो कि आपस में मिलने के पहले एक दूसरे के रक्त से होली खेलनी चाहिये तो मैं कहता हूँ यह हम जितनी ही जल्दी कर डालें उतना ही हमारे लिए अच्छा है । अगर

हमें एक दूसरे का सिर फोड़ना है तो हम उसे मनुष्योचित रूप से करें।” इस हृदयस्पर्शी घोषणा को आज १५ वर्ष बीत गये; लेकिन अवस्था जैसा-की-तैसी बनी है; बल्कि और भी खराब है । फिर भी, जिन लोगों ने एका करने के निश्चय को दृढ़ता से पकड़ रखा है—फिर चाहे जो हो—और इसी से अन्त में इसका मूल्यांकित हागा—उनमें से मीलाना अबुल-कलाम आजाद का नाम सर्वप्रथम है ।

• धार्मिक विचार

मौलाना के धार्मिक दृष्टिकोण और धार्मिक बातों के सम्बन्ध में उनके विचारों को समझने के लिए एक या दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यहाँ प्रधान बात यह ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि वे उन पूर्वजों की लम्बी परम्परा से आरहे हैं, जो धर्मोपदेशक थे और संभवतः कट्टर धर्मावलम्बी रहे होंगे तथापि उन्होंने अपने मस्तिष्क को प्राचीन धार्मिक परम्परा तथा रूढ़िवादी शिक्षा से मुक्त कर लिया था और जैसा कि हमने चौथे परिच्छेद के अन्त में देखा है, उन्होंने विभिन्न तत्वों को समझने के लिए अपनी आत्मालोचना का तरीका बना लिया था। उनके तरीके को पूर्णरूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि मुसलमानों के अन्दर फूलने और फलने वाले विभिन्न विचारावलम्बियों के तरीकों को भी जान लेना चाहिये। इसी तरह उस तरीके को भी जान लेना चाहिये, जिस तरीके को विभिन्न टीकाकारों ने अपनाया और जिसके कारण आज दर्शन की विचार-प्रणाली और मुसलिम बुद्धिवाद के विभिन्न विचारावलम्बियों की सम्पन्नता की अभिवृद्धि हो रही है। मौलाना ने एक नया इल्म-ए-कलाम अर्थात् इस्लामी शिक्षा का बुद्धिसंगत अर्थ करने का तरीका चलाया है। इस अध्ययन की हर बारीकी में जाना मेरे लिए असंभव है और शायद पाश्चात्य पाठकों के लिए यह आवश्यक भी नहीं है।

उन्होंने सभी बातों को बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसकर देखने का तरीका अपनाया और किसी बात को उन्होंने इसलिए नहीं अपनाया कि वह पहले से ग्रहीत मान ली गई है अथवा उसकी परिभाषा परम-पवित्र होने के कारण उस पर प्राचीनता की छाप लगी है या उसके साथ महापुरुषों के नाम जुड़े हुए हैं। ये उस लोगों में नहीं हैं, जो ऐसी बात

को सिद्ध करने में रात-दिन लग रहे हैं कि इस दुनिया में कोई चीज नहीं है और यहाँ तक कि आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण का भी धार्मिक ग्रंथों में समावेश है। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक और ऐतिहासिक है और वे प्रत्येक वस्तु की खानबीन न केवल उसके निकटतम संदर्भ से ही करते हैं, बल्कि समस्त पुस्तक की कार्य-कारण शृंखला के सम्बन्ध को उसकी कृति से मिलाकर परखते हैं। इन तमाम बातों के अलावा, वे जिनको धर्म की असली जड़ें कहते हैं, उनमें और उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाओं में भेद मानते हैं। अगर हम इन बातों को ध्यान में लेकर चलेंगे तो हमें इस्लाम की उनकी परिभाषा और अन्य धर्मों के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझने में अड़चन न होगी।

इस बात को समझने के लिए उनका अति प्रामाणिक मूल ग्रंथ है उनके द्वारा किया हुआ कुरान का अनुवाद और भाष्य, जिसके प्राक्कथन में उन्होंने व्यापक भूमिका लिखकर अपने तरीके को समझाया है। इस अनुवाद और भाष्य का यहाँ सक्षिप्त इतिहास देना, अप्रासंगिक न होगा। इस पुस्तक के दो-तीन अध्याय उन्होंने नज़रबन्दी में राची में चार वर्ष रहकर लिखे थे और तीसरे हिस्से के लिखने में वे लगे हुए थे कि एक दिन यका-यक चीफ कमिश्नर आये और उनकी देर तक कोना-कोना खानकर तलाशी लेने के बाद जो भी पाण्डुलिपियाँ उनके हाथ लगी उन्हें उठा ले गये और उन्हें भारत-सरकार के पास भिजवा दिया। ये पाण्डु-लिपियाँ उन्हें नज़रबन्दी से मुक्त होने के बाद भी तबतक नहीं लौटाई गई जबतक उन्होंने लार्ड सिन्हा के द्वारा भारत-सरकार को नहीं लिखा। भारत-सरकार ने जवाब में लिखा कि इस सम्बन्ध में बिहार सरकार से लिखा-पढ़ी की जाय, जिनको पाण्डुलिपियाँ लौटा देने का आदेश दिया जा चुका है। लिखा-पढ़ी करने पर बिहार-सरकार ने उन्हें लौटाया अवश्य किन्तु अस्त-व्यस्त और अधजले रूप में। उन्हें बताया गया कि आग लग गई थी और कहा गया कि उन्हें अपने भाग्य को सहायता चाहिये; क्योंकि उतना हिस्सा तो कम-से-कम बचा लिया गया। पाण्डुलिपि के इस विनाश के अर्थ को सरकार जे०एस० मिल के उस नौकर से अधिक नहीं समझी जिसने कार्लाइल द्वारा लिखित फ्रान्स की राज्य-क्रांति पर तैयार की हुई पाण्डुलिपि को जलाकर भारी नुकसान किया था। लेकिन जिस तरह

कार्लाइल ने समस्त भाग को फिर से लिखा उसी तरह मौलाना ने भी सारे अनुवाद और भाष्य को फिर से लिखा ।

मौलाना के भाष्य को वे लोग भी श्रद्धा और सम्मान से देखते हैं, जो उनसे खार खाते हैं। कारण, मौलाना के गंभीर अध्ययन और उनकी प्रकाण्ड आलोचनात्मक विद्वत्ता का लोहा न केवल हिन्दुस्तान के विद्वान् बल्कि दूसरे मुसलिम मुल्कों के विद्वान् और धर्मध्यक्ष भी मानते हैं ।

आइये, हम स्वयं उस पुस्तक का अवलोकन करें । वे शुरू करते हैं मौलिक प्रस्ताव से, अर्थात् सभी धर्मों की जड़ें, अथवा जड़ एक है और प्रत्येक जाति, राष्ट्र और युग का अपना-अपना गुरु और पैगम्बर हुआ है और उनके सिखाये हुए असली सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं है । मौलाना के शब्दों में कुरान में लिखा है, 'कोई राष्ट्र और कोई युग हो, परमात्मा द्वारा भेजे हुए पैगम्बरों ने मानवजाति के कल्याण के लिए एक ही सार्व-भौमिक सत्य का उपदेश दिया है । जैसे निष्ठा और सत्कार्य अर्थात् एक ईश्वर की पूजा और सदाचार । इसके विपरीत जो भी कहा जाय वह सच्चा धर्म नहीं है ।' कुरान में लिखा है (६१८) "मैंने दुनिया में हर जाति के लिए एक ऐसा पैगम्बर भेजा है जिसने सिखाया है कि एक ईश्वर की पूजा करो और कभी वासनाओं में बह न जाओ ।" और 'मैंने तुम्हारे समक्ष भेजे हुए किसी पैगम्बर के साथ सिवा इस आदेश के दूसरा आदेश कभी नहीं भेजा ।' 'पूजा करने के लिए केवल मैं ही एक ईश्वर हूँ और कोई दूसरा नहीं ।' कुरान में यह भी लिखा है कि 'ईश्वर ने सभी आदमियों को मानव बनाया है । लेकिन उन्होंने विभिन्न जाति और पंथ अपनाकर मानव जाति के एके को भंग कर दिया है । क्योंकि तुम्हारा जन्म कई वंशों से हुआ है; इसलिए तुम्हारे भिन्न-भिन्न नाम पड़े और एक-दूसरे से भ्रंलग हो गये हो ।' तुम्हारा विभिन्न देशों में जन्म हुआ; इसलिए एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से लड़ रहे हैं । तुम भिन्न-भिन्न जाति के हो, इसलिए तुम एक दूसरे से युद्ध करते हो । तुम भिन्न-वर्णों से पैदा हुए हो; इसलिए परस्पर द्वेष के कारण वर्ण-युद्ध होते आ रहे हैं, और भाषा भी भेद का और एक कारण है । इनके अलावा और भी असंख्य भेद हैं जैसे अमीर और गरीब, स्वासी और सेवक, उच्च-कुलीन और नीच-कुलीन, बलवान और बलहीन, इत्यादि इत्यादि । इन तमाम

भेदों का अस्तित्व सिवा फूट धीरे भगड़े के दूसरे ढंग से नहीं हो सकता । फिर ऐसा कौनसा रेशमी डोरा है, जो इन बिखरे हुए मनकों को पिरो सकता है और विभक्त मानव जाति को एक संयुक्त जाति में ला सकता है ? वह रेशमी डोरा, वह पुनीत शृंखला एक ईश्वर की पूजा है । तुम आपस में कितने ही बटे हो, तुम्हारे विभिन्न ईश्वर नहीं हो सकते । तुम एक प्रभु के सेवक हो और तुम्हारी प्रार्थनाएँ और पूजा एक पुनीत आसन के समक्ष हैं । इसकी कोई बात नहीं कि तुम्हारी कौनसी जाति है, तुम्हारा कौनसा गिराह या देश है, बस जैसे ही तुम अपने-आपको एक पिता के समक्ष समर्पण कर दोगे वैसे ही वह तुम्हारे सभी सांसारिक भगड़ों का अन्त कर देगा और तुम्हारे दिलों को जुड़ा देगा । फिर तुम जानोगे कि समस्त संसार हमारा देश है, मानवजाति एक परिवार है और हम उसी पिता की सन्तान हैं ।”

आगे लिखा है :

“कुरान किसी को भी यह सिद्ध करने की चुनौती देता है कि कोई भी दूसरे प्रेरक ग्रंथ या धर्म अथवा ऋषि या पैगम्बर कुरान में निर्दिष्ट इस त्रिकालसत्य से भिन्न शिक्षा देते हैं ।” अगर तुम इस सत्य (मेरी शिक्षा) से इन्कार करते हो तो, तुम अपनी बात कुरान से पहले के किसी ग्रंथ से अथवा अपने किसी मूल ज्ञान या सत्य से सिद्ध करो । (४६:३) . कुरान इस तरह घोषित करता है कि सभी धर्मों के अखण्ड सत्य एक दूसरे का समर्थन करते हैं । अगर यह बात है तो इससे यह सिद्ध होता है कि इन सबों के पीछे एक त्रिकाल सत्य है ।”

इसके बाद धर्म के गूदे और छिलके, जड़ और शाखाओं के बारे में घोषणा आती है । कुरान कहता है—सभी धार्मिक शिक्षा के दो भाग हैं—एक जिसमें अखण्ड तत्त्व अर्थात् धर्म के मूलका समावेश है और दूसरे में बाह्यरूप अथवा आवरण का । एक प्रधान है, दूसरा गौण । पहले को कुरान निष्ठा कहता है और दूसरे को आचरण के नियम । दूसरे का नाम है शरआ, या नुसुक, या मिनहाज । प्रथम दो शब्दों का अर्थ है मार्ग और तीसरे का अर्थ है पूजापाठ या कर्मकाण्ड । कुरान कहता है, संसार के धर्म मूलतत्त्व में मतभेद नहीं रखते—जैसे त्रिकालसत्य; लेकिन आचरण के नियमों—पूजापाठ के तरीकों में उनका भेद है । उनकी जड़ों में भेद

नहीं है; लेकिन पत्तों और शाखाओं में है; सार में नहीं; किन्तु बाह्यरूप अथवा आवरण में भेद है। यह भेद अनिवार्य था। धर्म का उद्देश्य मानव-जाति का कल्याण है; लेकिन देश और काल के अनुसार मानव जाति की अवस्था बदली रहती है। एक देश अथवा काल में एक खास तरह का रहन सहन होता है और दूसरे में दूसरे तरह का। इसलिए जिस देश या काल में जिस धर्म की शिक्षा दी गई उस धर्म के बाहरी आवरण को उस देश या काल में प्रतिबिम्ब पड़ा है और वही धर्म उस देश या काल के अनुरूप हुआ है। कुरान कहता है—“ऐ पैगम्बर, मैंने मानव के हर गिरोह के लिए पूजा पाठ का अलग-अलग एक खास तरीका बताया है और उसी तरीके को वह बरतता है, इसलिए मनुष्यों को चाहिये कि वे इन तरीकों पर भगड़ा न करे (२२-७६)।” कुरान आगे चलकर बताता है कि कहां धर्म का असली तत्त्व है और मनुष्य अपने कल्याण की प्राप्ति किस तरह कर सकता है। कुरान का कहना है कि धर्म में इस बात का जिक्र नहीं है कि पूजापाठ या नमाज के समय मनुष्य किस तरफ अपना मुह करे—पश्चिम में अथवा पूर्व में। धर्म का असली तत्त्व है एक ईश्वर की पूजा करना, आचरण को शुद्ध रखना। और फिर कुरान इनकी परिभाषा करता है :

“सात्विकता यह नहीं

कि तू अपना चेहरा

पूर्व या पश्चिम की तरफ कर;

बल्कि सात्विकता है

ईश्वर और क्रयामत (प्रलय)

तथा क्रिश्तों

एवं पाक-ग्रंथों में

और पैगम्बरों के विश्वास में है।

छर्च करना

उसके नाम पर

भाई-बच्चों के लिए,

पत्नीयों के लिए,

ग़रीबों के लिए,

मुसाफ़िरों के लिए,

दासों की मुक्ति के लिए;
 पूजापाठ में रत रहना,
 बान-धर्म में नियमित रहना
 वचनो का पालन करना,
 जो तूने दिया है;
 कुछ दर्ब में
 और मुसीबत में
 तथा घबराहट के सभी समय में
 बराबर धीरज रखना
 और अचल रहना ।
 ऐसे ही लोग होते हैं
 सत्य-भीरु और ईश्वर-भीरु । (२. १७७)”

मेने यहा श्रीयुत ए०यूसुफ अली के छंदमय अनुवाद का उपयोग किया है, जो अभी हालका है। मीलाना के अपने अनुवाद में ‘ग्रथो’ की जगह ‘ग्रथो’ है और ‘वचनो पालन करना, जो तूने दिया है’ के स्थान पर “संकल्प ग्रथवा प्रतिज्ञा को निभा” है ।

यहा कुरान के परम-उपदेश की भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के उन्नीसवें श्लोक से, या बारहवें परिच्छेद में वर्णित भक्तों के गुणों से, ग्रथवा ईसा मसीह द्वारा धन्य माने हुए मनुष्य के गुणों से तुलना करके कुराने पर लिखे हुए मीलाना के भाष्य के मुद्दों को देखा जा सकता है ।

मीलाना ने आगे कहा, “फिर आप इस कुरान को देखें (मे चाहता हूँ कि आप इसको सरसरी तौर से न देखें; बल्कि समझाकर इसके एक-एक शब्द के अर्थ को पढ़ें), आप में से प्रत्येक के लिए (अर्थात् प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए) मेने खास नियम और तरीके निर्दिष्ट कर दिये हैं । अगर ईश्वर की इच्छा होती तो वह तुम सबको समान बनाता (अर्थात् कर्मकाण्ड और रस्मो-रिवाजों में कोई भेद न होता) । लेकिन उसने तुम लोगों को अपनी आज्ञाओं के पालन करने में परीक्षा लेने के लिए अलग-अलग बनाया है । इसलिए सद्गुणों में एक दूसरे से बाझी मार ले जाने का प्रयत्न करो (न कि भेद-भावों पर जोर देने का)” ५.४८ । जब कुरान का अवतरण हुआ तब विभिन्न धर्मों के अनुयायी धर्म

के बाह्य रूप पर ही अधिक जोर दे रहे थे । उसी को धर्म का असली तत्व समझ कर गलती कर रहे थे । प्रत्येक की यही धारणा थी कि उसके अपने धर्म के सिवा किसी धर्म में मुक्ति नहीं मिलती; क्योंकि रस्मोरिवाज और कर्मकाण्ड उसके धर्म के समान दूसरे के धर्म में नहीं थे । कुरान का कहना है कि यह धर्म की अवहेलना करना है। धर्म का सार है, एक ईश्वर की पूजा करना और शुद्ध आचरण करना । यह किसी व्यक्ति अथवा जन-समूह की अपनी खुद की बपोती नहीं हो सकती । रस्मोरिवाज और कर्मकाण्ड देश और काल के अनुसार भिन्न रहेंगे और इनकी भिन्नता चलती रहेगी । कुरान में आगे कहा गया है कि ईश्वर ने अपने अन्तःकरण से इस विभिन्नता को जान-बूझकर बनाया है । उसमें यह भी कहा गया है कि विभिन्न जातियों के लोगों के लिए विभिन्न नियम और तरीके बनाये गये हैं । उसमें यह नहीं कहा गया कि विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न धर्म बनाये गये । क्योंकि धर्म सबके लिए एक है । कुरान कहता है कि मानवी स्वभाव ऐसा बना है कि उसके लिए बाह्य रूप विभिन्न होंगे और हर एक सोचता है कि उसका तरीका दूसरों से उत्तम है । वह अपने विरोधी के दृष्टिकोण से अपने तरीके को देख नहीं सकता; लेकिन, अगर तुम्हारी नजरों में तुम्हारा रास्ता ही उत्तम है, उसी तरह दूसरों की दृष्टि में उनका ही रास्ता उत्तम है । इसीलिए सहिष्णुता ही एकमात्र मार्ग है ।”

अब मैं कुरान की उन तीन आयतों पर प्रकाश डालूंगा जो मौलाना के शब्दों में 'कुरान असख्य पुस्तकों का संक्षिप्त सार है' । ये सारा की सख्या २१ की ९२, ९३, ९४ आयते हैं ।

९२. (इन सब पैगम्बरों द्वारा हमने जो शिक्षा दी है वह यह है) “तुम्हारी वस्तुतः एक ही जाति है, न तुम्हारा भिन्न धर्म है, न भिन्न समूह । मैं अकेला प्रभु हूँ और सबका संरक्षक हूँ; इसलिए केवल मेरी ही पूजा करो ।” (इसमें तुम अलग न हो) ।

९३. “लेकिन लोगों ने आपस में भेद पैदा कर दिया है। अपने धर्म के टुकड़े कर दिये हैं । अन्त में सबको मेरे ही पास आना है ।”

९४. “अतएव (इस बात का स्मरण करो कि यही सत्य है) जो सात्विक कार्य करेगा और ईश्वर में निष्ठा रखेगा, उसके प्रयत्न विफल

न जायये । हम उसके कार्यों का लेखा करने के लिए वहां मौजूद है ।”

मौलाना टिप्पणी करते हुए कहते हैं उन तमाम पैगम्बरों की शिक्षा का निचोड़ क्या था जिनका विभिन्न युगों और जातियों में अवतरण हुआ था ? उनका विभिन्न युगों और समूहों के लिए क्या सदेश था ? वह क्या एक अथवा अनेक थे ? आयत सख्या ९२ में नपे-तुले शब्दों में बताया गया है कि ‘उनका सदेश एकमात्र यह था—‘तुम जातियों की भ्रातृ-भावना के प्रतीक हो और तुम सबका संरक्षण अथवा उद्धार करने वाला केवल एक है । इसलिए तुम आपस में भेद मत करो, उसी की पूजा करो ।

‘लेकिन लोगों ने इस शिक्षा को मुला दिया, धर्म के कई हिस्सों में टुकड़े कर दिये और उसके कई धर्म बना दिये तथा एक समूह दूसरे से दूर हो गया । एकता के स्थान में अनेकता, मेल के स्थान में विभाजन, उनकी रण-गर्जना बनी । लेकिन अन्त में सबको उसी के पास आना है । वहां उसे सब बताया जायगा और हर समूह जान जायगा कि उसकी भूल से वह कहां से-कहा चला गया है । धन्य है उस ईश्वर को । कुरान ने अपनी एक ही बात से इस विषय के समस्त ग्रंथ को आश्चर्यजनक ढंग से एक संक्षिप्त आयत में निचोड़ कर रख दिया । और फिर वह वक्तव्य मात्र नहीं है; बल्कि उसकी ऐसी रचना की गई है कि वह बुद्धिसंगत तर्क की एक अखंड शृंखला बन गई है । (अ) इसकी कोई बात नहीं है कि तुमने कितने विभाग बना दिये, फिर भी तुम्हारी बिरादरी एक ही है; (आ) मैं तुम्हारा एक मात्र रक्षक हूँ और दूसरा कोई नहीं; (इ) फिर समस्त मानवजाति की एक बिरादरी है और उनका उस एक के सिवा दूसरा कोई रक्षक नहीं है, पूजापाठ की शैली भी एक क्यों न होनी चाहिये ? इसलिए उसी एक की पूजा करो; क्योंकि तुम एक हो और एक के अलावा कोई नहीं । ‘इसलिए’ शब्द के अंदर समस्त तर्क का सार आ जाता है ।

‘इस एक आयत में तीनों एकों का सार है । बिरादरी का एका, ईश्वर का एक धर्म और पूजापाठ का एका । ये तीन एके कुरान के सदेश के आवश्यक तत्त्व हैं । कुरान जहां-तहां इसी सदेश की दुहाई देता है, अपनी शिक्षा की नींव इसीपर रखता है । बिरादरी के एके का अर्थ है कि मानवजाति

की विभिन्नता में उसका एका छिपा है। इसको न भूलो। तुम्हारा वह देश और भाषा कितने ही भिन्न क्यों न हो, तुम मानव-जाति के एक परिवार हो और वस्तुतः तुम एक बिरादरी हो। ईश्वर की एकता का अर्थ है कि चाहे तुमने ईश्वर के कितने ही नाम क्यों न गढ़े हो, चाहे तुमने पूजा के कितने ही विभिन्न स्थान क्यों न बनाये हो, चाहे उसके बारे में कितनी ही विभिन्न धारणाएँ तुमने क्यों न बनाई हों, तुमने जो भेद बना रक्खा है वह वास्तविकता को भिन्न नहीं कर सकता। ठीक जिस तरह तुम्हारी एक बिरादरी है उसी तरह तुम्हारा उद्धारकर्ता भी एक है। इसके अलावा दूसरा कोई नहीं। पूजापाठ की एकता का अर्थ है कि जहाँ एक बिरादरी है तो वहाँ एक ही धर्म होना चाहिये और दूसरा नहीं। इसलिए शुद्ध आचरण में केवल एक ईश्वर का स्थान है इस सम्बन्ध में न विभाजन होना चाहिये, न पृथक्करण।

“एक आयत में (९४) मुक्ति और सात्विकता के असली तत्वों को साफ-साफ तौर से समझाया गया है। अर्थात्, मानवजाति के विभिन्न गिरोहों में विभक्त हो जाने के बावजूद, मुक्ति और सात्विकता के तत्व वही हैं। कुरान का कहना है, उनकी अभिन्नता युगों से चली आ रही है—ईश्वर में निष्ठा और शुद्ध आचरण। मनुष्य के सत्कार्य, उसके प्रयत्न और उसकी ईश्वर के प्रति निष्ठा कभी विफल न जायेंगे। ईश्वर उसको अवश्य स्वीकार करेगा। “जो कोई भी” शब्द को ध्यान में रखो। ‘यहूदियों ने कहा यहूदी बनो’ नाभरिनो ने कहा नाभरिनी बनो। कुरान कहता है “जो कोई भी सात्विक कर्म करता है और ईश्वर में निष्ठा रखता है उसके लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि उसकी ईश्वर में निष्ठा है।” यदि वह सात्विक कार्यकर्ता है तो उसके कार्य विफल नहीं जायेंगे। यह निश्चित है कि उसका फल मिलेगा। यह नियम है। उसकी निष्ठा और उसके कार्य का हमारे यहाँ लेखा रहेगा। हमारी नोद को कौन मिटा सकता है? दुनिया में प्रत्येक को यह समझने दिया जाय कि वह बेकार गया लेकिन हमारे खातों में वह अमिट बनकर लिखा जायगा। यह कैसा महत्वपूर्ण प्रस्ताव है और फिर भी कुरान पर लिखे हुए भाष्य की ओर देखा जाय तो मालूम होता है कि उसका सारा-का-सारा महत्त्व खत्म हो गया है और बेतुके भगड़ों का खिचड़ा बन गया है।”

आगे वे दूसरी जगह इस पवित्र ग्रंथ पर आलोचना करते हुए कहते हैं कि कुरान ने इस बात की मनाही की है कि ससार के विभिन्न पैगम्बरों के बीच कोई भेद न किया जाय : “कुरान कहता है कि यह प्रत्येक का कर्तव्य है कि जो ईश्वर के मार्ग पर चलने की कामना करता है उसे चाहिए कि वह विभिन्न पैगम्बरों और विभिन्न ग्रन्थों में कोई भेद न करे और सब में समान रूप से विश्वास करते हुए किसी को मानने से इन्कार न करे और उसकी यह प्रवृत्ति होने चाहिए कि ‘सत्य का उद्घाटन कही भी हो और किसी के भी द्वारा हो वह सत्यही है और उसमें मेरी निष्ठा है।’”

और एक ग्रन्थ का उल्लेख करके अब मैं समाप्त करूँगा । मैं नहीं समझता कि मौलाना उन सिद्धान्तवादियों की बातों को बर्दाश्त कर सकते हैं, जो ध्येय को आचरण से अलग करके देखते हैं । कुरान की आयत पर उनका भाग्य उनके विचार को बहुत ही स्पष्ट कर देता है । वे कहते हैं :

“यहूदियों का विश्वास था कि वे प्रभु द्वारा चुने हुए प्राणियों में से हैं और ईश्वर द्वारा प्रदत्त सत्य उनकी खास अपनी सम्पत्ति है । कुरान में इसको सफेद भूठ कहा है । इस पर उनकी धर्मान्धता आग बगूला हो उठी । वे कहते थे कि क्योंकि वे यहूदी हैं, वे नरक की यातनाओं से मुक्त हैं और यदि परमात्मा उन्हें नरक में डाल भी देता है तो, वह उन्हें क्रोध में आकर नहीं; बल्कि, उन्हें स्वर्ग में आने के लिए अग्नि से पवित्र करने के लिए । कुरान उनके इस ढोंग का पर्दाफाश करता है और पूछता है कि ‘तुम्हें यह कल्पना कहा मिली कि यहूदियों की मुक्ति का बीमा हो गया है, और तुम्हें नरक से छूट मिल गई ? क्या ईश्वर ने तुम्हें मुक्ति का अधिकार पत्र दे दिया है ? अगर तुम इस बात को सिद्ध नहीं कर सकते तो तुम ईश्वर की सत्ता से इन्कार करते हो, और उसे भूठा कहते हो ।’ अब कुरान क्या कहता है देखिये; (मुसलमानो ! याद रखो) मक्ति न तुम्हारी इच्छाओं पर निर्भर है न दूसरों पर; जिनको पवित्र ग्रंथ प्राप्त हैं । (ईश्वरी कानून है कि) जो कोई भी बुरा काम करेगा उसे उसके फल भोगने ही होंगे । उसको ईश्वरी क्रोध से उसके सहायक न बचा सकेंगे । जिस तरह—विष खाने वाला अवश्य मरता है, फिर चाहे वह यहूदी हो अथवा और यहूदी और दूध पीने वाला हूँ—

पुष्ट होता है फिर चाहे वह यहूदी हो अथवा ग़ैर यहूदी । उसी तरह आध्यात्मिक बात है । जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा । इसकी कोई बात नहीं कि वह किस धर्म अथवा पथ का मानने वाला है ।”

मैंने मौलाना को टेक्सास के रब्बी कोहान की बात को स्मरण कराया । रब्बी कोहन से जब पूछा गया कि क्यों भाई तुम उन लोगों की सेवा और सहायता क्यों करते हो जिन लोगों में यहूदी नहीं है । तो उन्होंने जवाब दिया, “क्यों, उनमें तो दरअसल कोई यहूदी है हा नहीं । लेकिन उससे अन्तर क्या पड़ता है? इस नगर में न मेथाडिस्ट^१ हैं, न बेपटिस्टों^२ की कोई घरेलू शिकायत है, न प्रेसबीटेरियनो^३ में कोई कगाली है, न कोई कैथोलिक^४ लूला दिखाई देता है ।” मौलाना ने कहा, यह रब्बी कोहान का सही कहना था ।

क्या मौलाना, एक धर्मावलम्बियों को दूसरे धर्मावलम्बियों पर प्रभुत्व जमाने के समर्थक है ? मौलाना ने सन् १९२० में अदालत के सामने दिये हुए अपने वक्तव्य में वस्तुतः “इस्लाम की सत्ता” के शब्द समूह का उपयोग किया है । लेकिन उनका भाष्य उनके इस अर्थ को बिल्कुल साफ कर देता है । उन्होंने इस बात को साफ किया कि “इस्लाम का अर्थ है सत्य को ग्रहण करना और उसके अनुसार आचरण करना ।” कुरान कहता है कि “धर्म का सार सब जगहों में एक-सा ही पाया जाता है, जैसे ईश्वर के बताये रास्ते पर चलना । सदाचरण का यह मार्ग न केवल मानव जाति के लिए है, बल्कि समस्त ससार के लिए है ।” इस्लाम की सत्ता का अर्थ उनकी सत्ता से अधिक नहीं है । जिनके विचारों में कथनी और करनी ईश्वर के चरणों में सम्पूर्ण रूप से समर्पण का प्रतिबिम्ब है अथवा बाइबल की भाषा में जो ईश्वर की सत्ता और उसकी कृपा को मानते हैं वे बार-बार कहते हैं कि इस्लाम कोई नया धर्म नहीं है । यह केवल उन लोगों को आह्वान है, जिन्होंने परमात्मा से मुँह मोड़ लिया है । इस आह्वान के द्वारा उन्हें फिर से सदाचार के रास्ते पर लाकर ईश्वर और ईश्वर की कृपा की अनुभूति करानी है ।

. १२ :

विशेषताएं

मोलाता का ऊंचा कद, सीधा और शाही डीलडौल, आंखों में प्रतिभा की झलक तथा रौब, जिससे आदर और सम्मान पैदा होता है, हकीम अजमल-खा तथा डा० अन्सारा जैसी विभूतियों की याद दिलाते हैं, जो अपने जीवनकाल में इस्लामी संस्कृति का सर्वोच्च तरीके से प्रतिनिधित्व करते थे। उनके आचरण और व्यवहार में शायस्तगी है। इन गुणों के कारण वे जहां भी जाते हैं वही उनको इज्जत और कद्र होती है। साथ-ही-साथ उन्हें एकान्त भी पसंद है जिसकी वजह से उनको अन्य कुछ नेताओं की श्रेणी में ला बिठाना कुछ आसान नहीं है; क्योंकि, इन नेताओं के पास किसी का भी पहुंच आसानी से होसकती है, जिसके कारण उन्हें नानाप्रकार की परेशानियां उठानी पड़ती हैं और फिर वे चाहें या न चाहें उन्हें सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय बनना ही होता है। उनके मननशील स्वभाव के साथ उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा ज्ञान प्राप्ति की अतृप्त लालसा उन्हें जनता से घुलमिल जाने, उसके दुख-दर्दों की असंख्य कहानियां सुनने और उसे सान्त्वना देने के लिए बाधा उपस्थित कर देती है। यह बात नहीं कि उनके दिल में देश के दलितों के लिए कोई दर्द नहीं। एक दिन मैंने जैसे ही उन्हें खादी के महत्व पर बोलते देखा, तो मुझे ऐसा लगा कि उस गंभीर विषय पर वे लगातार घण्टों तक बोलते रहें तो अच्छा होगा। उन्होंने कहा, 'स्वराज्य का तबतक कोई मतलब नहीं निकलता है जबतक 'साधन सम्पन्न' और 'साधन हीनों' के बीच की विशाल खाई को तोड़ा नहीं जाता। और मैं खादी तथा खादी के सर्वत्र उपयोग से बढ़कर और किसी चीज को सोच नहीं सकता; क्योंकि इसी के द्वारा हम थोड़ा-बहुत यह अनुभव कर सकते हैं कि हमारे करोड़ों दलित भाइयों के

साथ हम एक हुए हैं। क्या हम युगों से प्राप्त किये हुए ऊंचे स्थान से नीचे आना चाहते हैं? क्या हम चाहते हैं कि हमारे अभागे भाई हमारे साथ कन्धे-से-कंधा मिलाकर काम करें और स्वतन्त्रता प्राप्ति के कार्य में अभिमान और आनंद का अनुभव करें तथा हमारे समान वे भी स्वाधीनता की शीतल-ज्योति से अपने नेत्रों को तृप्त करें? क्या आप अपने साथ उनका भी जागृत होकर उठना पसन्द करते हैं? हमारे सामने खादी की व्यापकता के अलावा कोई मार्ग नहीं है।" इतने पर भी मुझे यही मालूम हुआ कि उनकी वृत्ति उन्हें किसी एक गांव में चर्खा चलाते हुए बैठने के लिए अनुमति नहीं दे सकती। यह स्वयं वे अच्छी तरह जानते हैं और मेरा तो अनुभव है कि ऐसे बहुत थोड़े नेता हैं, जो मौलाना के समान अपनी सीमाओं का अच्छी तरह अनुभव करते होंगे।

यह एक तरह से उनकी कमजोरी है और मजबूती भी है। उनकी विद्वत्ता और बौद्धिकता ने उन्हें वह वस्तु प्रदान की है जिसे स्वतंत्र मस्तिष्क कहते हैं। वे किसी भी विषय के बारे में उसकी अच्छाई और बुराई के पहलुओं को स्वर्णतुला में तोल के देखते हैं और अक्सर ऐसा मालूम होता है कि वे अपना निश्चय निर्धारित करने में अपने-आपको असमर्थ पा रहे हैं। उनकी ग्रहण-शक्ति कांग्रेस के बहुत से लोगों से श्रेष्ठ है। वे बहुधा किसी नीति का स्पष्टीकरण और प्रतिपादन बड़ी सुन्दरता और सफाई से करते हैं। इसमें वे अद्वितीय हैं। लेकिन, कभी-कभी, लोगों को यह जानना कठिन हो जाता है कि उनका दृष्टिकोण क्या है। पंडित मोतीलाल नेहरू और उनमें गहरी मित्रता थी। वस्तुतः स्वराज्यपार्टी के उन गौरवशाली दिनों में प० मोतीलाल नेहरू बौद्धिक और नैतिक समर्थन के लिए मौलाना से ही सहायता पाते थे। लेकिन अक्सर जब मौलाना गांधीजी की बात को बात-की-बात में समझ लेते और कहते: "महात्माजी, मैंने तो आपकी बात को तुरन्त समझ लिया", तब वयोवृद्ध पण्डितजी मजाक में एक चुटकी ले बैठते "लेकिन, खेद की बात तो यह है मौलाना कि आपतो बातों को पहले से ही जान जाते हैं।" फिर खूब कहकहा लगता।

लेकिन, यह जैसा कि मैंने कहा है, मौलाना की मजबूती का भी सबूत है। कांग्रेस के अंदर मौलाना से बढ़कर कोई दूसरा नीतिज्ञ नहीं

हैं और जब वे किसी बात को देख लेते हैं और समझलेते हैं तो उस बात को मौलाना के सिवा और किसी के बूते का नहीं कि सभी संभव दृष्टि-कोणों से तथा पहलुओं से उस बात को समझा सकें।

लेकिन इन बातों से मुझे महात्माजी और मौलाना के बीच के गहरे प्रेम-बन्धन की एक भांकी देने की इच्छा होती है। सदा के सामान, सन् १९३९ में सिन्ध-मन्त्री-मण्डल के सुलभाने का प्रश्न बड़ा ही विकट हो गया था। मामला यहां तक बढ़ चुका था कि उसे गांधीजी के सामने पेश करने की नौबत आ गई थी। मौलाना ने कहा, "मेरा अपना दिमाग एक दिशा में चलता है, लेकिन, जैसे कि अबतक मैं आपकी नैतिक प्रेरणा को मानता आया हूँ, इस मामले में भी मैं आपके निर्णय को बिना किसी बहस के स्वीकार कर लूंगा।" गांधीजी ने कहा "नहीं, लेकिन हम निश्चय कर चुके हैं कि ऐसे मामलों में आपका ही निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जाय और मैं वल्लभभाई तथा राजेन्द्र बाबू (पार्लियामेंटरी उप-समिति के सदस्य) से कहूंगा कि वे आपके फैसले को मंजूर करें।" किन्तु मौलाना ने कहा, "लेकिन मेरे लिए तो आपका ही निर्णय अन्तिम निर्णय होगा।" बड़ी देर तक एक प्रेममय खीचातानी चलती रही। अंत में, मेरा खयाल है, मौलाना हारे और गांधीजी जीते।

मैंने एक बार मौलाना से पूछा : "आपका गांधीजी के प्रति इतना गहरा आकर्षण कब से और कैसे शुरू हुआ।" उन्होंने कहा : "अलौकिक प्रतिभा के अलावा उनकी विशुद्ध सच्चाई ने ही मुझे उनकी ओर खींचा है। लेकिन, सन् १९२६ तक मैं उनका थोड़ा-बहुत आलोचक रहा हूँ। उसके बाद मुझे उनके 'यंगइण्डिया' साप्ताहिक में उनका एक लेख पढ़ने को मिला, जिसमें उन्होंने अपनी श्रीमतीजी की एक साधारण-सी भूल की आलोचना करते हुए अपने हृदय को चीरकर रख दिया था। श्रीमतीजी को कहीं से एक उपहार मिला था; जिसको वे आश्रम के व्यवस्थापक के सुपुर्द करना भूल गई थी। इसपर मैंने अपने दिल से कहा, 'यह व्यक्ति है जिसकी सच्चाई में शत्रु भी शंका नहीं कर सकता,' और आश्चर्य में मैं, सोचता ही रह गया कि कहीं इस सच्चाई का भी अन्त होगा या नहीं।"

इससे उनके उस अद्वितीय पद का भी पता चलता है जो कांग्रेस के संगठन में उन्हें प्राप्त है। अब तक यह पद उनके लिए सुरक्षित रहा है, उस हालत में भी जब वे कांग्रेस के सभापति न थे। और अब, वे चाहे सभापति रहें अथवा न रहे, अपने कार्यशील जीवन में अन्त तक इस सम्मान का उपभोग करते रहेंगे।

और फिर भी, वे अधिकार के पद से सहमते हैं। किसी भी धारा-सभा में "स्वायत्त" के पहले अथवा बाद में—वे पार्टी के नेता बन सकते थे। लेकिन उन्होंने इसमें इन्कार करके अपने-आपको अलग ही रक्खा। वे सदा देशबन्धुदास और मोतीलाल नेहरू के सलाहकार रहे हैं। उन्होंने इनकी सलाह बिना महत्वपूर्ण अवसरों पर कोई कदम नहीं उठाया। वे सलाहकार की हैसियत से रहना ही अधिक पसन्द करते हैं। असली बखेडों में प्रत्यक्ष रूप से पड़ने का उन्हें कभी खयाल तक न आया।

उन्हें किताबों के बीच छोड़कर लिखने-पढ़ने दिया जाय तो वे खूब प्रसन्न रहते हैं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक कहा करते थे कि उन्हें जो कुछ विद्या देवी (सरस्वती) को अर्पण करना था वह सब उन्हें मातृ-भूमि के चरणों में समर्पण करना पड़ा, और इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर उनका जेल के बाहर का समय देश-सेवा में न लगता, तो उनसे हमें—"आर्किटिक होम इन दी वेदाङ्ग" भगवद्गीता पर भाष्य, जिसे 'गीता रहस्य' कहते हैं, के समान विद्वत्ता और पाण्डित्य परिपूर्ण किन्ने ही ग्रंथ मिलते। यही बात मौलाना की है। यह बहुत ही कम लोग जानते हैं कि लोकमान्य तिलक भाषा विज्ञान के भी एक महापण्डित थे। अस्तु, मौलाना भी तो भाषा शास्त्र के एक पण्डित हैं। लेकिन उनका भाषा शास्त्र का पाण्डित्य आजकल अधिकतर जलपान के समय ही चलता है। उन्हें भारतीय भाषा में समानार्थी शब्द ढूँढ़ने का बड़ा शौक है और जब कभी उन्हें कोई नया शब्द मिल जाता है, उसे वे ग्रहण कर लेते हैं तो मारे खुशी के उछल पड़ते हैं। मैंने एक बार 'पुनश्च' के लिए एक शब्द का उपयोग किया जो गुजराती भाषा में सामान्य रूप से प्रचलित है। उससे वे बड़े खुश हुए। वस्तुतः वह फारसी के दो शब्दों से मिलकर बना है। यद्यपि वह गुजराती में प्रचलित है, लेकिन अरबी और फ़ारसी के

पण्डित के लिए एकदम नया था। उसके बाद से वे मुझे हमेशा कहते हैं “वह शब्द ‘ताजा क़लम’ बड़े ही सुन्दर तरीके से गढ़ा गया है, हमें उसे अपना लेना चाहिए।” जब कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य दोपहर या शाम को भोजन करने बैठते हैं तब अपनी गरमा-गरम—कभी-कभी एक दूसरे पर छींटा कसी करने वाले बहुसंकी ओर से परावृत्त होने के लिए वे इधर-उधर की बेमतलब की बातें छेड़ दिया करते हैं। ऐसे अवसरों पर मौलाना इतिहास के विभिन्न देश और युग के भोजन प्रकारों पर बहस करने में—जिनका उन्हें अद्भुत ज्ञान है—आनन्द लेते हैं, और फिर कभी दार्शनिक चुटकुले छोड़कर सहयोगियों का दिल बहलाने के साथ उन्हें शिक्षा भी देते हैं। मदरासियों की ओर मुड़कर वे कहते हैं, “आप तामिल भाषियों (मदरासियों) को इमला’ बड़ी पसन्द है; लेकिन आप लोगों को शायद इसका मूल शब्द मालूम नहीं। स्पेन भाषा में इसे तमरिण्डो कहते हैं जिसे स्पेन वालों ने अरब से लिया है। अरबी में इसे तमर-ए-हिन्द कहते हैं। तमर का अर्थ अरबी में है ‘खजूर’ और हिन्द का अर्थ है ‘हिन्दुस्तान’। हिन्दुस्तान में खजूर न थे और यह फल खजूर से बहुत मिलता-जुलता था। इसलिए उन्होंने इसका नाम ‘हिन्दुस्तान का खजूर’ रखवा। किसी ने ‘धर्म’ शब्द के बारे में पूछा और मौलाना ने फौरन दीन और मजहब के भेद का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने कहा—“मजहब” को यही धर्म के लिए इस्तेमाल किया जाता है; लेकिन अरबी में इसके लिए शब्द है ‘दीन’ और मजहब का अर्थ है ‘मार्ग’ या ‘पंथ’। और ‘दीन’ उसी तरह है जिस तरह अवेस्ता में ‘देनिया’ जिसका अर्थ होता है कर्तव्य, नियम, कानून; और यही वस्तुतः दीन का अर्थ है, और जिस तरह अवेस्ता में यह शब्द पाया जाता है उसी तरह संस्कृत में भी इसी तरह का शब्द होना चाहिये। मेरा अनुमान है यह ‘धर्म’ शब्द के समान उसी अर्थ में है। कैसे अक्षरज की बात है कि शब्द युग-युग और देश-देशान्तर से चले आ रहे हैं। अब लीजिये संस्कृत का शब्द ‘संन्यास’। इस शब्द का अर्थ है संसार का परित्याग करके वनवास ग्रहण करना। यहां, ऐसा मालूम देता है कि संन्यास प्राचीन फ़ारसी में ‘सस्सन’ बना।

१. यहां ‘तेमरिण्ड’ अंग्रेजी शब्द का प्रयोग है।

क्योंकि, ईरान में एक वंश को सस्सानाइड कहते थे। कारण, उस वंश के प्रथम नरेश ने राज-सिंहासन ग्रहण करने के पहले त्यागी महात्मा अथवा संन्यासी का जीवन बिताया था। ओह, वह भी क्या जमाना था। राजा बनना कितना सरल था। एक राजा निपुत्र मरा। उसने अपना बारिस उसको बनाने के लिए आदेश दिया, जो शहर का दरवाजा खुलते ही प्रथम प्रवेश करे।

मीलाना प्राच्य-द्विष्टा के महापंडित हैं और फ़ारसी तथा अरबी का उनका ज्ञान गहरा है; लेकिन जब वे बोलते हैं तो ऐसी साफ और मंजी साफ़-साफ़ सरल उर्दू बोलते हैं कि सभी उसे आसानी से समझ जाते हैं। वस्तुतः इन्हीं की भाषा है, जिसको गांधीजी—हिन्दुस्तानी—भारत की राष्ट्रभाषा कहते हैं। उन्हें कभी उचित शब्दों की अड़चन पड़ती नहीं दिखाई दी। कभी-कभी तो इनकी अ-प्रासंगिक बातचीत ऐसे प्रेम-प्रभाव एवं अर्थ-गाभीर्य से भरी होती है, जो दिल में एकदम जाकर बैठ जाती है। सन् १९३६ में मे यूही कुछ मिनट बातचीत कर रहा था। इसी समय किसी ने जनता की निष्ठा और भक्ति का उल्लेख किया। मैंने कहा, “इसी निष्ठा के कारण हम इतनी लड़ाइयां लड़ चुके हैं और काफ़ी हद तक सफल भी रहे हैं।” इसी बातकी मीलाना ने टीका कर डाली जिसको मैं समझता हूँ यहां, ज्यो-का-त्यों उद्धृत करूं। वह एक शिक्षा थी और भाष्य भी। उन्होंने कहा—“बिलकुल ठीक, उसने सबकुछ किया तथा और करती है। लेकिन मुश्किल तो यह है कि धर्म ऐसी शक्ति है, जिसका अनुमान लगाना असंभव है। एक बैलगाड़ी किसी-किसी अनाड़ी हाकने वाले के हाथ से ऐसी दुर्घटना का कारण भी बन सकती है जो हाकने वाले के साथ एक, दो या अधिकों को कुछ जल्मी कर दे। लेकिन हम जानते हैं कि एक रेल-दुर्घटना में क्या होता है। सैकड़ों आदमियों की जानें जाती हैं। अपार सम्पत्ति का नुकसान धर्म उसी दैत्याकार इज्जत के समान है जिसके लिए कुशल और जागृत सारथी की आवश्यकता है। अयोग्य सारथी के हाथों अकथनीय विपदा आसकती है। हमारे दुर्भाग्य से धर्म की बागडोर अयोग्य लोगों के हाथ में पड़ी हुई है। उन्होंने उसे अधर्म में परिवर्तित कर दिया है और मैं नहीं कह सकता कि हम कहां जा रहे हैं।”

यद्यपि वे थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी बोल लेते हैं, उनका पुस्तकालय अंग्रेजी और फ्रेंच की महान् उत्तमोत्तम पुस्तकोंसे भरा हुआ है। उन्होंने शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ और शैली सहित बहुत से अंग्रेजी कवियों की कृतिया पढ़ी हैं, लेकिन, उन्हें सबसे अधिक बायरन पसन्द है। वे गेयटे के इस कथन से सहमत से मालूम देते हैं कि "ऐसे किसी कवि को मत दिखाओ जिसकी उससे तुलना होती हो।" बायरन की कविता के अलावा उसकी जो सबसे अच्छी बातें उन्हें जंची, वे हैं उसका यूनान की मुक्ति के लिए वीरोचित प्रयत्न करने का तरीका, उसकी उस स्वतंत्रता के लिए क्रान्तिकारी ढंग से राजनैतिक कार्य करना तथा अपने भाषणों द्वारा जीवन और विचार की स्वतंत्रता के लिए जोरदार प्रचार करना।

संसार के समस्त विद्वानों की कृतिया उनके पुस्तकालय में मिलेगी—गेयटे, स्पिनोज़ा, रूसो, मार्क्स, हेबलाक एलिस। उसी तरह उपनिषद् और वेद तथा सभी राष्ट्रों की जातियों के ग्रंथ, इतिहास, इतिहासकार, विख्यात साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तकालय आदि आदि। उन्होंने अपनी प्रचण्ड भूख को तृप्त करने के लिए सभी—वेबरली और डूमा तथा व्हिक्टर ह्यूगो के उपन्यासों को पढ़ डाला। अब उन उपन्यासों को विशेष रूप से पढ़ा जो फ्रान्स की राज्यक्रान्ति पर लिखे हुए हैं। टॉल्स्टाय और रस्किन की कृतियों को उन्होंने एक से अधिक बार पढ़ा है। दर्शन और इतिहास की पुस्तकें तो सदा उनके साथ रहा करती हैं। एक बार रेल में सफर करते समय उनके पास मैंने श्याय-वैशेषिक दर्शन का ग्रंथ देखा और आश्चर्य की बात है कि उन्हें मेडम जेन्नी पोपेडोर की पुस्तक में आनन्द लेने के लिए इतनी ढलती उमर में भी अवकाश मिल जाता है; जबकि वे इतने व्यस्त रहते हैं। उनके लिखने की मेज के सामने के तख्ते पर पेगम्बर तथा उमर महान् पर लिखी हुई हाल की कृतिया मौजूद थीं लेकिन इनके साथ फ्लाबर्ट की वे पुस्तकें भी थीं, जिनमें मेडम बोप्पहरी भी थी। मैं यहां उन अलमारियों का जिक्र नहीं करूंगा जिनमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषा की किताबें भरी हैं, जिनके नामों से भी हम अपरिचित हैं।

वे बाहरी जगत से पोथे-के-पोथे भर चिट्ठी पत्रियों से अपना निव्य

सम्पर्क रखते हैं। उन्हें चिट्ठी-पत्रिया भेजनेवालों में स्वर्गीय जगलूल पाशा और फतहीबे उनके बड़े मित्र थे। वे स्वर्गीय मुस्तफा कमाल पाशा तथा तुर्की के अग्रगण्य नेताओं से निकट का सम्पर्क रखते थे। युवक तुर्की दल के लगभग सभी नेता, जिन्होंने “सघ और प्रगति” के कार्यक्रम द्वारा सन् १९०८ में क्रान्ति की थी—मौलाना के व्यक्तिगत मित्र थे। यह दल यूरोप के गत महायुद्ध तक सत्तारूढ था। डाक्टर सेलाहुद्दीन, अनवर पाशा जावेदबे तथा तुर्की पार्लियामेंट के अध्यक्ष अहमद रेदा से मौलाना की चिट्ठी-पत्रिया चलती थी। ईरान के विख्यात उग्रवादी तकी ज़ेदा मौलाना के मित्रों में थे।

पढ़ने-लिखने में तल्लीन रहने की आदत के कारण उन्हें एकान्तवास अधिक पसन्द आता है, और यद्यपि वे बहुत ही मिलनसार तथा यहातक कि किसी से भी आसानी से मिलते और बोलते हैं, तथापि उनके मित्र इनेगिने ही हैं। यद्यपि वे वाद-विवाद में परिपक्व और मजे हुए हैं, फिर भी जबतक उनसे कुछ पूछा नहीं जाता तबतक वे खामोश ही रहना अधिक पसन्द करते हैं। हर बात में टाग अड़ाना उनके स्वभाव के विपरीत है। एकान्त पसंद होने की वजह से उनके जीवन के बारे में लोगों को बहुत ही कम ज्ञान है। अगर उनके बारे में कुछ मालूम है तो केवल यही कि उन्हें चाय से बड़ा प्रेम है और वे लगातार एक के बाद एक सिगरेट पीते चले जाते हैं।

उनका जीवन एकदम सादा है और उनके दफ्तर तथा बैठक में सिवा किताबों के कुछ नहीं मिलेगा। यहा तक कि वहा फोटो-चित्र भी नहीं दिखाई देंगे। उनके सिगरेट पीने के बारे में मैंने पूछा :

“जब आप जेल गये थे तो आपकी सिगरेट का क्या प्रबन्ध था ?” वे बोले—“मुझे प्रसन्नता हुई कि आपने इस सवाल को पूछ लिया। सन् १९२१ में जब मुझे अलीपुर जेल ले जाया गया, तब, मेरे सिगरेट के डिब्बे में दस सिगरेटें थी। उनमें से मैंने दो पी डाली और बची हुई आठ जेल अधिकारियों के सुपुर्द कर दी। देशबन्धु ने मुझसे कहा ‘यह तुम गलती कर रहे हो, क्योंकि तुम्हें इनकी आवश्यकता पड़ेगी।’ मैंने कहा, “नहीं, जेल से मुक्त हुए तक नहीं। और मैं आपसे कहता हू कि थोड़े

ही दिनों के अन्दर मैंने उसे भुला दिया।” इस बारे में वे स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू के समान ही मालूम देते हैं। ५० मोतीलालजी ने मुझे एक बार कहा था कि मुझे जीवन की अच्छी चीजों से प्रेम है; लेकिन मैं उनका आदी नहीं हूँ। “मैं उन्हें बात-की-बात में छोड़ सकता हूँ।” लेकिन श्री० डीवेल्लेरा या यू कहिये सरदार वल्लभ भाई पटेल और उनमें अन्तर है। एक बार श्री० थोमस ने श्री डीवेल्लेरा से पूछा, “आप कोई नशावशा नहीं करते और यहां तक कि आप सिगरेट भी नहीं पीते?” डीवेल्लेरा ने जवाब दिया, “मि० थोमस, इसकी तो जवाबदेही आप अग्रेजों पर है। शायद आपको याद होगा—एक दफा—मेरे जीवन की स्मरणीय घटना है—मैं पकड़ा गया और मुझे लिंकन जेल भिजवाया गया। जेल के फाटक पर पहुंचने के पहले मैंने अपने ले जाने वाले पुलिस के जवान से कहा, मैं सिगरेट पीना चाहता हूँ। जवान ने कहा ‘पीओ, मुझे आपत्ति नहीं है।’ मैंने सिगरेट जलाई। सिगरेट की तरफ देखकर मैं अपने मन से कहने लगा, मैं समझता हूँ, अग्रेज मुझे फांसी पर लटकाना चाहते हैं और यह सिगरेट मेरी अन्तिम सिगरेट होगी। खैर, अगर मैं जेल से बाहर निकल जाऊ तो फिर कभी सिगरेट नहीं पीऊंगा, ताकि इसका अच्छी तरह स्मरण रहे। आप जानते हैं, मैं जेल से निकल आया और तब से मैंने तम्बाकू को छुआ तक नहीं।” ठीक इसी तरह की बात सन् १९३० में सरदार वल्लभ भाई पटेल के साथ हुई। लेकिन, उन्हें फांसी पर नहीं चढ़ना था। उन्हें बहुत ही कम अवधि के लिए जेल में रहना था—केवल तीन महीने। फिर भी उन्होंने उन्हें ले जाने वाले पुलिस कर्मचारी से एक भी सिगरेट लेना स्वीकार नहीं किया, और तब से उन्होंने सिगरेट को हाथ तक नहीं लगाया। मौलाना ने लगातार पंद्रह महीने तक सिगरेट नहीं पी, लेकिन जेल से छूटते ही पीना शुरू कर दिया और मेरठ की जेल में तो वे पीते ही रहे; क्योंकि वहां सिगरेट पीने की स्वतन्त्रता थी।

वे बड़े नियम-पूर्वक रहते हैं और बहुत सबेरे उठते हैं। सिगरेट के सिवा और उन्हें किसी चीज की लत नहीं है। मैं नहीं समझता वे कभी खेल-समाशा या नाटक सिनेमा देखते हैं। वे प्रदर्शन और जलूसों से

कुछ बबराते हैं और जिसमें देर लग जाय ऐसे भोजन या अन्य बातों के निमंत्रण को बहुत ही कम स्वीकार करते हैं। उनके भाषण में सायस्तगी और सफाई होती है। वे सराटे भरने वाले भाषण कभी नहीं करते। वाद-विवाद में उनकी तर्क शैली से लोगो को काफी लाभ होता है। छोटी-छोटी कमेटियों-समाधो में तो वे खूब खिल उठते हैं। वे अपनी सीधी-सादी, चुभती हुई वक्तृत्व कला से श्रोताओं को हिला देते हैं फिर भी वे तत्त्वतः जननायक नहीं हैं।

: १२ :

दूसरा आन्दोलन "

पीछे के वर्ष आत्म-प्रकाशन और आत्म-परीक्षण के थे। स्वराज्य एक साल में प्राप्त करना था, किन्तु कुछ खास शर्तें पूरी होने पर, जिनको लोगो ने बड़ी आसानी से भुला दिया था। उन्होंने केवल इस बात को ही याद नहीं रक्खा था कि वे शर्तें पूरी नहीं हुई; बल्कि स्वराज्य के न मिलने की बात उन्हें अच्छी तरह याद थी। जो-कुछ प्रयत्न उन्होंने किया था वह स्पष्टतया उसी एक वर्ष के लिए किया था। बहुत-सो ने अपना पुराना पेशा लेलिया था और बहुत-सो को तो इस बात का खेद हुआ कि उन्होंने थोड़ा-बहुत जो त्याग किया वह बेकार गया। सबसे अधिक निराशा बुद्धि-जीवियों को हुई। क्योंकि ये लोग गांधीजी-द्वारा सुभाषचरणात्मक कार्यक्रम को इसके लिए अनिवार्य शक्त के रूप में मानने को तैयार थे किन्तु इस कार्यक्रम को दूसरे सघर्ष के लिए तैयारी के रूप में आवश्यक समझते थे। ये नीति-परिवर्तन के लिए बेचैन थे और सघर्ष को धारा-समाग्री के द्वारा चलाना चाहते थे।

जनवरी सन् १९२३ में जब मौलाना जेल से मुक्त हुए तो उन्हें दिखाई दिया कि कांग्रेस सगठन के अन्दर आपस में फूट पड़ी हुई है। गांधीजी अपनी गिरफ्तारी के समय एक सदेश छोड़ गये थे। उस सदेश में उन्होंने बताया था कि हिंसा की प्रवृत्ति को दबाने के लिए—जिसके लक्षण चोरीचोरा काण्ड के द्वारा दृष्टिगोचर हुए थे—रचनात्मक कार्यक्रम ही एकमात्र उपचार है। गांधीजी को जेल जाते समय इस कार्यक्रम में तथा इस कार्यक्रम को चलाने की देश की योग्यता में पूरा विश्वास था। देश में एक ऐसा दल था जो गांधीजी के इस सदेश को ईमानदारी से चलाने के लिए तैयार था। इस दल के नायक श्री चक्रवर्ती राजगोपाला-

चार्य थे और इनके साथ सरदार वल्लभ भाई पटेल, बाबू राजेन्द्रप्रसाद और डा० अन्सारी जैसे नेता थे। वे बहिष्कार के चतुर्मुखी कार्यक्रम को अपरिवर्तित रखने के दृढ़ समर्थक थे। इसीलिए उन्हें 'अपरिवर्तनवादी' कहा जाता था। दूसरे दल के नेता थे स्व० पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वर्गीय देशबन्धुदास और स्वर्गीय विट्ठल भाई पटेल, जो ऐसे लोगोका प्रतिनिधित्व करते थे जो राजनैतिक नतीजो के अनुसार राजनैतिक कार्य चाहते थे वे असहयोग को सिद्धान्त के रूप में मानते थे और दिशासन पद्धति के साथ सहयोग देनेवाले नरमदली सिद्धान्त के वे विरोधी थे। लेकिन वे धारा-सभाओ के बहिष्कार को जारी रखने के पक्षपाती न थे। उनका विचार था कि इनपर कांग्रेसजनों का अधिकार जमाकर दिशासन-पद्धति का भीतर से नाश करना चाहिये। ये लोग 'प्रति-परिवर्तनवादी' कहलाते थे। कभी-कभी इन दो दलों का आपसी झगड़ा ऊँचे दर्जे की बौद्धिक बहस का रूप लेता और कभी तो ये तू-तू-मैं-मैं पर भी उतर आते। जनता की लम्बी प्रतीक्षा के बाद जेल से छूटने ही फौरन मौलाना ने एक वक्तव्य देकर अपनी स्वयं की स्थिति साफ कर दी। उस वक्तव्य में उन्होंने कहा—“कोई राजनैतिक कार्यक्रम न तो सदा के लिए अपरिवर्तित माना जा सकता है न पवित्र। उसकी कसौटी तो उसके नतीजे से होती है।” उन्होंने इस समय देश की अवस्था के प्रकाश में एक विशुद्ध तर्क-युक्त और व्यावहारिक रुख लिया। देश को दिये हुए गांधीजी के असहयोग के सिद्धान्त से उन्हें आसक्ति थी, लेकिन सासारिक पुरुष की हैसियत से उन्होंने देखा कि तबतक न तो असहयोग से ही देश का लाभ हो सकता है, न अहिंसा से ही जबतक कि दो दल आपस में लड़ते रहेंगे और एक-दूसरे की शक्ति को कमजोर करते रहेंगे। इसलिए उन्होंने दोनों दलों के बीच एका न सही—दोनों दलों को समान कार्यक्रम पर मिलकर काम करने को तैयार करने का काम हाथ में लिया। इस काम में उन्होंने दोनों दलों से अपने-आपको अलग रक्खा। इसमें उन्हें एक सुविधा प्राप्त थी कि वे दोनों दलों के विश्वासपात्र थे। वे इस काम में जीजान से लग गये और सलाह-मशविरा तथा वाद-विवाद करने के लिए उन्होंने लम्बा दौरा किया। मुसलमानों के बीच में जमियत-उल-उलेमा का एक दल था। क्योंकि इस दल ने असहयोग के प्रारम्भ में एक घोषणा

निकाल कर घोषित किया था कि धार्मिक दृष्टि से सरकार के साथ सह-योग करना पापाचार है। अतः उन धारा-सभाओं में कांग्रेस जनों का जाना जो सरकार की बनाई हैं, उन्हें किसी कदर जंचता न था। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के गया अधिवेशन में उन्होंने इस घोषणा को फिर से दोहराया था। यह साफ था कि जब तक इस घोषणा का विरोध रहेगा तब तक आपस ने कोई समन्वय न हो सकेगा। यह आवश्यक था कि मुसलमानों के इस रुख को बदला जाय। मौलाना इस काम में सफल हुए यद्यपि इसमें उन्हें खूब मराजपन्ची करनी पड़ी होगी तथा कार्य-कुशलता में बड़ी परेशानी उठानी पड़ी होगी।

ता० १५ सितम्बर १९२३ को दिल्ली में मौलाना की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन हुआ। इसमें उन्होंने अपने अध्यक्ष पद के भाषण में इस समन्वय के सिद्धान्त को रखा। उन्होंने कहा कि जो धारा-सभाओं के प्रवेश में विश्वास करते हैं उन्हें वैसा करने की अनुमति मिलनी चाहिये ताकि वे उन संस्थाओं पर अधिकार जमाकर उनके भीतर से असहयोग के कार्यक्रम को जारी रख सके और जो इस कार्यक्रम पर विश्वास नहीं रखते, उन्हें चाहिये कि वे कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में लग जाय। सिद्धान्त स्वीकृत हुआ और इस तरह कांग्रेस के पार्लियामेण्टरी कार्यक्रम का सूत्रपात हुआ। आज हम जब पीछे मुड़कर उस घटना पर दृष्टिपात करते हैं तो मौलाना द्वारा उस अवसर पर प्रदर्शित अपनी असाधारण चतुराई पर आश्चर्य से एकदम दातों तले अंगुली डालनी पड़ती है। उन्होंने समझाया कि मैं जानता था कि धारासभा के प्रवेश-कार्यक्रम से हमें अधिक लाभ न होगा; लेकिन मेरी आखें भविष्य पर लगी हुई थी। कारण, कांग्रेस के अन्दर बहुत से कांग्रेस जनों और प्रभावशाली नेताओं की वृत्ति धारासभाओं की ओर खिंची जा रही थी, और मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि सीधे कार्य के किसी कार्यक्रम के अभाव में पार्लियामेण्टरी कार्यक्रम से कुछ लाभ पहुंचेगा।

यह अनुमान लगाना व्यर्थ है कि फलां-फलां बात होगई होती अगर कौन्सिल प्रवेश के बीच के काल में गांधीजी के सीधे कार्य में, जो वे हिंसा का वातावरण शुद्ध होते ही अमल में लाने की गुंजाइश समझते थे, वस्तुतः रुकावट न पड़ी होती। यह बात अवश्य हुई कि मौलाना के कार्य से एक

नसीजा निकसा। उसने कांग्रेस को दो दिलों में विभक्त होकर आपस में लड़ने से तथा गांधीजी की गिरफ्तारी से जनता में जो पस्त-हिम्मत आगई होती, उससे बचा लिया। इसने गांधीजी के उस अन्तिम कार्यक्रम को भी अमल में लाने के लिए रास्ता साफ किया जो उन्होंने असहयोग के सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखते हुए राजनैतिक समन्वय को जीवित मेल में परिवर्तित किया।

इसके बाद अलीबन्ध आये। उन्होंने थोड़ा बहुत हिचकिचाहट के बाद उसी रुख को अपनाया। सन् १९२४ में जेल से मुक्त होने पर गांधीजी को अपना निर्णय करने में कोई अड़चन नहीं पड़ी। लोगों को अपनी वाञ्छित प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के लिए बाध्य करना अथवा उनपर नैतिक दबाव डालना व्यर्थ था। उन्होंने अपने इस विचार को जैसा-का-तैसा ही रखा कि कौन्सिल प्रवेश असहयोग की नीतिसे मेल नहीं खाता; लेकिन उन्होंने 'अपरिवर्तन-वादियों' को परामर्श दिया कि कौन्सिलों में जाने वालों की ओर से विरोधी भावना का त्याग करे। वे उनके सामने इस धारणा से बराबर झुकते ही गये कि अनुभव से कौन्सिल प्रवेश वाले स्वयं अपनी गलती को स्वीकार करलेगे। उन्होने कहा, "इन लोगों को मदद करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि मैं बिलकुल अलग होकर कांग्रेस की सहायता और उसके नाम से रचनात्मक कार्यक्रम पर अपनी शक्ति केन्द्रीभूत करूँ और वह भी उस सीमा तक कि जिस सीमा तक शिक्षित भारतीयगण मुझे करने की अनुमति दें।

कौन्सिल कार्य उस सीमा तक बिलकुल सफल रहा जिस तक भाषणों द्वारा आतिशबाजी करने का सम्बन्ध था। वक्तृत्व कला में कमाल दिखाया गया। सरकार की हार-मर-हार हुई; लेकिन इन सबसे हम किसी हद तक अधिक बलवान नहीं बने। और जैसे-जैसे समय बीतता गया कौन्सिल-प्रवेश-वादियों में भ्रष्टता फैलने लगी और अनेक बार पं० मोतीलाल नेहरू को कड़ी अनुशासन की कार्रवाई करनी पड़ी। उन्होंने स्वयं कौन्सिलों के रूखे कार्यक्रमों से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश की थी। इसके अलावा उनके अभिन्न मित्र एवं साथी देशबन्धुदास उन्हें अकेला और मित्रहीन करके परलोक सिंघार गये थे।

हिन्दू-मुसलिम तनातनी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। सन् १९२७

में मुलतान, बरेली, नागपुर और अन्य स्थानों में भीषण दंगे हो चुके थे। एकता-सम्मेलन होते थे। सद्भाव प्रेरक प्रस्ताव केवल इसीलिए पास होते थे कि उन लोगों द्वारा इनका उल्लंघन किया जाय जो इनकी रस्ती-भर परवाह नहीं करते थे। गांधीजी खामोशी से अपने कार्य में लगे हुए थे। वे बहुत ही कम समितियों में उपस्थित होते थे और कभी कांग्रेस में उपस्थित हो भी जाते तो शायद ही कभी प्रतिनिधियों के बीच भाषण देते थे। गांधी जी की अनुपस्थिति में कांग्रेस के मदरास अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय बदल दिया गया था और अब उसका ध्येय 'स्वाधीनता' हो गया था। वे स्थानीय सत्याग्रह संघर्षों का बारडोली के मन् १९२८ के अद्वितीय सत्याग्रह के ढंग पर संचालन कर रहे थे। बारडोली का सत्याग्रह उनके एक कट्टर अनुयायी वल्लभभाई पटेल ने उनकी शिक्षा और प्रेरणा से चलाया था और मिट्टी के पुतलों को भी वीर बनाया था। इस तरह देश की मनोवृत्ति में परिवर्तन होता जा रहा था; लेकिन इसका श्रेय कौन्सिल कार्यक्रम न होकर सत्याग्रह के उन छोटे-मोटे संघर्षों को था।

सायमन कमीशन के आगमन की घोषणा से दूसरी बार देशव्यापी जागृति हुई। इस कमीशन का बहिष्कार इतना मुकाम्मल और प्रभावशाली हुआ जितना १९२१ में प्रिंस आफ वेल्स का बहिष्कार। पुलिस-कर्मचारी द्वारा लाला लाजपतराय की छाती पर पैशाचिक प्रहार के कारण उनकी शीघ्र मृत्यु ने देश के युवकों में एक क्रान्तिकारी प्रवृत्ति पैदा करने के लिए वह सब तैयारी की जिसकी कि आवश्यकता थी। और भी स्थानों में निर्दयता से लाठी प्रहार हुए, जिनका निशाना बनने वालों में लखनऊ के अन्दर सर्वश्री-पण्डित जवाहरलाल नेहरू और गोविन्द बल्लभ पन्त भी थे। इन प्रहारों का वर्णन पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'मेरी कहानी' के एक अ-विस्मरणीय अध्याय "लाठी प्रहार का अनुभव" में इस तरह किया है। "वे ऐसी शकलें थी जिन पर विद्वेष और रक्त-पिपासा का उन्माद छाया हुआ था। वे प्रायः पागल बने हुए थे तथा उनके अन्दर सहृदयता और मानवता का नामोनिशान न था। शायद हमारी और भी इन्हीं के समान शकलें नज़र आती थी, जिन्से विद्वेष टपकता था और बावजूद इस तथ्य के कि हम लोग अधिकतर

अकर्मण्य ये, हमारे दिल और दिमागों में विरोधियों के प्रति प्रेम के भाव न थे जिससे हमारे चेहरों का सौंदर्य बढ़ता ।” जो लोग पं० जवाहरलाल के ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति असामंजस्य पूर्ण विरोध को समझने में असमर्थ है, उन्हें चाहिये कि कम-से-कम उनकी इस महान पुस्तक के तीखे और चुभते हुए अध्यायों में से इस अध्याय को अवश्य पढ़ें । उनके हृदय में तीर लग चुका था । इस समय तक पण्डित मोतीलाल नेहरू ने साफ-साफ तौर से अपने कौन्सिल कार्य-क्रमों से अपनी परेशानी व्यक्त कर दी थी । एक साल की अन्तिम चुनौती का काल समाप्त होने आ रहा था । यह चुनौती कलकत्ता कांग्रेस में पण्डित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में स्वीकार की गई थी ; जिसमें सरकार से कहा गया था कि राष्ट्रीय मांग औपनिवेशिक स्वराज्य को फौरन मंजूर किया जाय अथवा पूर्ण स्वराज्य के कांग्रेस के हक का मुकाबला हो । अगस्त सन् १९२८ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने कांग्रेस सदस्यों को कौन्सिल से त्यागपत्र देने के आदेश का प्रस्ताव पास किया । अक्टूबर में उस समय के वायसराय लार्ड इरविन ने एक घोषणा की, जिसके जवाब में कांग्रेस कार्य-समिति तथा राष्ट्र के प्रमुख नेताओं ने वक्तव्य निकाल कर स्पष्ट किया कि वे इस बात में सन्तुष्ट होंगे कि जो सम्मेलन लार्ड इरविन ने बुलाने का आयोजन किया है उसमें “औपनिवेशिक स्वराज्य कब स्थापित किया इस पर बहस न होकर भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना पर बहस हो ।” और इस तरह के ठोस लक्षण दिखाने की मांग की, जिससे मालूम हो जाय कि “वास्तविक हृदय-परिवर्तन हो चुका है” और अंग्रेज-जनता भारत को “स्वतन्त्र स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में देखने की इच्छुक है । गांधीजी ने अपने एक वक्तव्य में इसको और स्पष्ट किया । हाऊस आफ कामन्स और हाऊस आफ लार्ड्स की बहसों से स्पष्ट हो गया था कि न किसी प्रकार का हृदय-परिवर्तन हुआ है न कोई ऐसी इच्छा है । और इसके कुछ ही दिन बाद लार्ड इरविन और नेताओं के बीच जो बातचीत हुई—यद्यपि यह सद्भावना पूर्ण थी—मामले को किसी हद तक सुलझाया नहीं । इस तरह लाहौर कांग्रेस तक जो घटनाएँ घटीं वे ऐसी थी जो उस अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता घोषित करने तथा उसकी प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा को साधन

बनाने के प्रस्ताव को पास करने के लिए किसी तरह का विरोध नहीं हो सकता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने अध्यक्ष पद के भाषण में सात्विक क्रोध प्रदर्शित किया और दृढ़तापूर्वक देश से अनुरोध किया कि उसे तब तक चैन न लेना चाहिये जब तक पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न हो जाय।

ऐसे अवसर पर मुसलमान कहां थे? सन् १९२४ से अलीबन्ध कांग्रेस से दूर-दूर हटते जा रहे थे। यद्यपि वे लाहौर कांग्रेस में उपस्थित थे; लेकिन उनकी उपस्थिति इसलिए हुई थी कि वे गांधीजी को बतला दें कि मुसलमान सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सहयोग नहीं देंगे और मुसलिम सहयोग के बगैर कांग्रेस का आन्दोलन जारी करना देश के लिए घातक होगा। डा० अन्सारी भी यद्यपि सदा से कांग्रेस के साथ थे, सविनय अवज्ञा के परिणामों से घबरा रहे थे और इसलिए उनके अन्दर आन्दोलन के प्रति जोश कुछ कम था। यही हाल बहुत से कांग्रेसी मुसलिम नेताओं का था। लेकिन मौलाना आजाद को इस सिलसिले में किसी तरह की शंका न थी। उन्होंने अपनी सारी शक्ति कांग्रेस कार्य में लगा दी। और उन्हें इस बात में कोई संदेह न था कि मुसलिम जनता कांग्रेस के आह्वान का साथ न देगी। उनका आशीर्वाद बिलकुल सही निकला। क्योंकि, एक मुसलिम प्रान्त—सरहदी प्रान्त अकेले ने हजारों लोगों को जेल भेजा और अकथनीय यातनाएं सहੀं। दूसरे प्रान्तों के मुसलमानों ने भी इतना कम हिस्सा नहीं लिया, जिसे नगण्य कहा जाय। और मौलाना ने जब सन् १९३० में कांग्रेस के अस्थायी अध्यक्ष की हैसियत से अपनी गिरफ्तारी के बाद डा० अन्सारी को अपनी जगह लेने के लिए कहा, तो बिलकुल आगा-पीछा न देखकर उन्होंने मौलाना की बात को स्वीकार कर लिया।

सन् १९३० का आन्दोलन सन् १९२१ के आन्दोलन से किसी बात में कम महान् न था। एक तरह से वह अधिक महान् था; क्योंकि, इसमें जनता ने कहीं अधिक त्याग और कष्ट सहाया और सरकार के पशुतुल्य हिंसा के सामने अनुकरणीय अहिंसा का सबूत दिया था। जो लोग अबतक कांग्रेस से दूर-दूर रहना चाहते थे, शामिल हो गये थे और किसानों ने तो अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था। गांधीजी के ऐतिहासिक नमक अभियान

के बाद जो जन-आन्दोलन उठा था उसमें हजारों और लाखों ने बड़ी बहादुरी से लाठी-प्रहार सहा, औरतों ने पैशाचिक मार सही और कुछ ने अपनी जानें गवाईं। यहां तक कि सरकार को निरीह जनता पर अपने पैशाचिक दमन की शरम आने लगी और लार्ड इरविन ने इस जुल्म को बन्द करने की कार्रवाई मामला बढ़ने से कुछ पहले ही शुरू कर दी थी। इसके बाद लार्ड इरविन और गांधीजी के बीच ऐतिहासिक बातचीत हुई जिसके फलस्वरूप जो विराम संधि अस्तित्व में आई उससे लार्ड इरविन की शान्ति की हार्दिक-कामना प्रगट होती थी।

विराम संधि के बाद जो घटनाएं हुई उनके उल्लेख की यह जगह नहीं। इनका वर्णन पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'मेरी कहानी' में तथा डा० पट्टाभী सीतारामय्या ने कांग्रेस के इतिहास में किया है। गांधी-इरविन समझौते की बाद की घटनाओं ने सिद्ध किया कि न तो सरकार की इच्छा अपनी सत्ता छोड़ने की थी और न हिन्दुस्तान के सरकारी कर्मचारियों की ही यह प्रवृत्ति थी कि वे अपने आधिपत्य का त्याग कर सेवा-भाव को अपनाते। लेकिन कांग्रेस कार्यसमिति ने ऐसे अवसर पर बड़े ही धीरज से काम लिया ताकि विराम-संधि भंग न होने पावे और गांधीजी से गोलमेज सम्मेलन में उपस्थित होने का अनुरोध किया, यद्यपि गांधीजी इससे सहमत न थे। उनके यहां से रवाना होने के पहले कार्यसमिति ने साम्प्रदायिक मामले पर अपने रुख की परिभाषा कर दी और घोषित किया कि "साम्प्रदायिक प्रश्न केवल राष्ट्रीय आधार पर ही हल हो सकता है और कांग्रेस सिक्ख, मुसलमान तथा दूसरे अल्पसंख्यकों को विश्वास दिलाती है कि उसका कोई भी ऐसा हल (अर्थात् साम्प्रदायिक प्रश्न का) भावी विधान में कांग्रेस को स्वीकृत न होगा जो दल-विशेषों को संतोष न दिलायेगा।" लेकिन देश की अवस्था को दृष्टि में रखकर कार्यसमिति ने "विशुद्ध साम्प्रदायिकता और विशुद्ध राष्ट्रीयता के आभाव पर सम्बन्ध के रूप में" एक योजना बनाई।

किस तरह गांधीजी गोलमेज सम्मेलन में गये, किस तरह वे डा० अन्सारी को राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रतिनिधि की हैसियत से गोलमेज सम्मेलन में शरीक कराना चाहते थे और इस प्रयत्न में वे किस तरह

असफल रहे और किस तरह साम्प्रदायिक समझौते के उनके प्रयत्नों को सरकार द्वारा पैदा की हुई गुटबन्दी ने सफल नहीं होने दिया आदि कहा-नियों को कहने के लिए यह जीवन-रेखाचित्र नहीं है। भारत की ओर से ब्रिटिश व्यापारियों का गोलमेज सम्मेलन में प्रतिनिधित्व करने वाले श्री० बेन्थल ने जो एक गुप्त गश्ती चिट्ठी लिखी थी वह अंग्रेजी सरकार की काली करतूतों पर एक दुःखद टिप्पणी है। इसी सिलसिले में और एक तथ्य है, वह यह कि अंग्रेजी सरकार ने 'भेदकरो और शासनकरो' की नीति को एक पैशाचिक कोशल का रूप दिया। श्री० बेन्थल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि "श्री० गांधी खाली हाथ लौटे।" ग्राम चुनाव के बाद सरकार के नरम दल ने निश्चय कर लिया है कि कांग्रेस को छिन्न-भिन्न करे तथा सम्मेलन (गोलमेज सम्मेलन) और कांग्रेस से लड़े। 'मुसलमान यूरोपियनों के पक्के मित्र बन गये हैं। वे अपनी अवस्था से संतुष्ट हैं और वे हम लोगों के साथ मिलकर काम करने को तैयार हैं। अब मुसलमान बिलकुल ठीक हैं। अल्पसंख्यकों के समझौते और सरकार के रुख ने इस बात को और भी पक्का कर दिया है। यही बात देशी रज-वाड़ों और अल्पसंख्यकों के बारे में है।"

इस तरह का संक्षिप्त वर्णन साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध में मौलाना की वृत्ति को ममभूने के लिए आवश्यक है। इसके कुछ ही दिन बाद यमराज ने राष्ट्रीय मुसलमानों में अग्रगण्य डा० अन्सारी को हममें से उठा लिया। अब मौलाना कांग्रेस के नायकों में उन थोड़े से प्रमुख मुसलमानों की हैसियत से एक बचे हैं। लेकिन बाद की घटनाओं ने मौलाना की ऐसी पक्की धारणा बना दी कि वे इस बातका अच्छी तरह विश्वास करने लगे कि साम्प्रदायिक समस्या का हल तब तक असम्भव है जब तक यहां से ब्रिटिश सरकार बिदा नहीं लेती और दोनों सम्प्रदायों को अपने भगड़ों का निपटारा करने के लिए मुक्त नहीं छोड़ती।

गांधीजी के गोलमेज सम्मेलन से लौटने के बाद के गड़बड़ी के पूरे काम में, और उनकी गिरफ्तारी से लेकर बर्लिंगटन सरकार द्वारा दमन तथा उसके बाद उनकी मुक्ति तक मौलाना बराबर कांग्रेस के साथ रहे। सविनय अवज्ञा स्थगित कर दी गई और तब हुआ कि स्वराज्य-

पार्टी को फिर से चलाया जाय । इस अवसर पर गांधीजी ने अपने पत्रमें डा० ग्रन्सारी को लिखा—“यद्यपि धारा समानों के बारे में मेरे विचार सर्वविदित हैं, यह न केवल उचित है बल्कि प्रत्येक कांग्रेस-जन का, जो किसी कारण विशेष से सत्याग्रह नहीं करता अथवा उसमें भाग नहीं लेना चाहता और जो कौंसिल-प्रवेश में विश्वास करता है—कर्तव्य है कि धारासभा में प्रवेश करने का प्रयत्न करे और वहां सच बनाकर कार्य-क्रम को चलाये ।”

एक रचनात्मक कार्यकर्ता की हैसियत से

कांग्रेसजनों की यह साफ-साफ राय होती हुए भा कि नये सुधारों द्वारा प्रातों में स्वशासन के बहुत ही कम अधिकार मिले हैं, किस तरह कांग्रेस कार्य समिति ने उन प्रान्तों में, जहाँ धारा सभाओं में कांग्रेस का बहुमत था, पद-ग्रहण करने का निर्णय किया, एक बड़ा ही अध्याय है, लेकिन, वह इस पुस्तक का अंग नहीं हो सकता ।

पद-ग्रहण के साथ-साथ, कांग्रेस कार्य समिति ने सन् १९३७ में एक पार्लियामेण्टरी उप-समिति की नियुक्ति की, जिसके मौलाना अबुल कलाम आजाद, बा० राजेन्द्रप्रसाद और सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे—पक्के, परखे, विश्वसनीय और सच्चे तथा जो सब-के-सब कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, लेकिन जिनका अपना कोई निजी स्वार्थ न था—तीन सदस्य थे । अमेरिका के लोकप्रिय पत्रकार गुथर ने इन्हे विभिन्न नामों से पुकारा है । पहले को उन्होंने “मस्तिष्क और आध्यात्मिक प्रकाश का एक अंग” कहा है, दूसरेको ‘हृदय’ और तीसरे को “निर्दयी मुट्ठी” । यह एक अमेरिकन वर्णन का तरीका है, जिसमें हर चीज के लिए यूरोपीय और अमेरिकन राजनैतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है, जो भारतीय तरीके से भिन्न है । क्योंकि, भारतीय राजनीति अहिंसा पर आधारित होने का दावा करती है और वह उसी पर आधारित है । उनका यह तरीका आलं-कारिक हो सकता है लेकिन, किसी अर्थ में भी सही नहीं हो सकता । पार्लियामेण्टरी उप-समिति को नियुक्त करने का उद्देश्य था धारा सभाओं के कांग्रेसी मंत्रीगण और कांग्रेस जनों को देश के समक्ष उनके द्वारा ली हुई प्रतिज्ञाओं के पालन में सहायता देना । इस काम के लिए उनकी सम्पूर्ण संगठनात्मक कार्य-कुशलता, अनुशासन की कायम रखने की सम्पूर्ण

योग्यता, सम्पूर्ण निष्पक्षता और नैतिक चौकन्नेपन की आवश्यकता थी, जिसके लिए तीनों-के-तीनों कम या अधिक परिमाण में योग्य थे। यद्यपि इसमें आग्रय बनने की जोखिम थी, किन्तु इसकी इन्हे कोई परवाह न थी। इसका प्रत्येक सदस्य अपने-अपने काम को ईमानदारी और सहायग की भावना से करता था। ये ऐसी भावना है जो लोगों में मुश्किल से पाई जाती है। प्रत्येक का कार्य-क्षेत्र बड़ा हुआ था, कारण समिति को हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश में कार्य करना था, लेकिन सदस्यों की समिति के कार्य के लिए सम्मिलित और पृथक् जवाबदेही थी। मैं यहाँ सिर्फ उसी कार्य का उल्लेख करूँगा जिसके लिए मौलाना अबुल कलाम आज़ाद को विशेष श्रेय है।

किसी को भी यह अनुमान न लगा लेना चाहिए कि क्योंकि मौलाना अध्ययनशील, मननशील और नीतिज्ञ हैं, इसलिए उन्होंने कोई रचनात्मक या ठोस काम किया ही नहीं। मैं यहाँ विशेष रूप से सन् १९२६-२७ (साल के बारे में भुझे शका हूँ) के कलकत्ते के हिन्दू-मुसलिम दंगे का उल्लेख करूँगा। उन दिनों, जिसने शान्ति कायम करने में सक्रिय भाग लिया था, उसे अपनी जान हथेली पर रखनी होती थी। मौलाना उस विशाल नगर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाते, कहीं हिन्दुओं को समझाते तो कहीं अपने सहर्षाभियों से बहस करते, इस तरह बेतहाशा कोशिश करते कि दंगा सीमित ही रहे। मौलाना ने दंगे का किस्सा बयान करते हुए कहा : “हिन्दुओं की एक घनी बस्ती में मुसलमान दर्जी बड़ी दूर से काम करने रोज सवेरे आया करते थे। साथ या सत्तर दर्जियों को एक हिन्दू मकान में हिन्दुओं ने आश्रय दे रखा था। लेकिन, वे ऐसी बस्तियों से जहाँ गुण्डाशाही का राज था निकलकर जा नहीं सकते थे। मैंने उन हिन्दुओं को इन लोगों की जाने बचाने के लिए धन्यवाद दिया और उन सबको लारियों में बिठाकर उनके घर सुरक्षित पहुँचा दिया। मुसलमान बस्तियों में हिन्दुओं की भी यही गत थी। एक मुसलमान ने अपने घर में तेरह आर्दामियों (११ पुरुषों और २ औरतों) को शरण दे रखी थी। आधी रातमें न तो कोई तागा मिल सकता था और न टैक्सी। मैंने म्यूनिसिपल कारपोरेशनसे एक मोटर मांगी, उसमें इन सबको बिठाकर इनके घर पहुँचा दिया। लगातार तीन दिन और तीन रात भुझे न

चैन था न आराम । एक दिन आधी रात को मुझे आसनसोल से एक चिट्ठी मिली, जिसमें लिखा था कि दो दिन पहले कुछ आदमी किसी जगह जाने के लिए कलकत्ता को रवाना हुए हैं, लेकिन, उनका कोई पता नहीं चलता । मैंने उन्हें ढूँढ़ निकाला, उनके रिश्तेदारों को सूचना दी, और उनको सुरक्षित रूप से घर पहुँचाने का प्रबन्ध किया ।”

इस किस्से का वर्णन पहले के किसी परिच्छेद में हो जाना चाहिये था, लेकिन, मौलाना की विधायक प्रतिभा को जताने के लिए मैंने जान-बूझकर यहाँ दिया है । अब मे स्यानीय उलझनों को सुलझाने में जो बीच-बीचमें, उठखड़ी होती थी अथवा लखनऊ के शिया-सुन्नी विवाद को सुलझाने के कार्य में, जिसमें उन्होंने अपना बहुत कुछ समय और शक्ति लगा दी थी—कितना हाथ था, कुछ नहीं कहूँगा । शिया-सुन्नियों का मामला तो अब तक उलझा हुआ है । लेकिन, मुझे विश्वास है कि अगर उसका हल किसी तरह हो सकता है, तो केवल मौलाना के मार्ग-दर्शन और प्रभाव से ही ।

अब, मे. मौलाना के उस कार्य पर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिसके फलस्वरूप उन्हें लाखों किसानों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ तथा जिससे उनके खूब संलग्न होकर काम करने के स्वभाव का परिचय मिलता है । इस काम से मेरा मतलब बिहार के किसानों के लिए किये गये काम से है । यह सवाल युक्तप्रान्त और बिहार में जमींदारी प्रथा होने के कारण बड़ा ही विकट था, क्योंकि, इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष किसान और सरकार के बीच में न था, बल्कि एक तरफ किसान और जमींदार के बीच और दूसरी तरफ दोनों और सरकार के बीच था । अक्तूबर सन् १९३७ में बिहार के जमींदारों का एक प्रतिनिधि मण्डल कांग्रेस के नेताओं से मिलने के लिए कलकत्ता पहुँचा और वह बा० राजेन्द्रप्रसाद से मिला । उन्होंने सोचा किसान और जमींदारों में आपसी समझौता कराने के काम में मौलाना से सहायता ली जाय तो बड़ा काम बनेगा । प्रतिनिधि मंडल मौलाना से भी मिला और वे यथासंभव मदद देने के लिए पटना जाने को तुरन्त तैयार होगये । वे वहाँ जाकर कई दिन तक बा० राजेन्द्रप्रसाद के सहयोग में काम करते रहे । वे प्रधान मन्त्री से भी बराबर सम्पर्क

रखते थे। वह अपने साथियों के साथ, ऐसे मौकों पर बातचीत में उपस्थित हो जाया करते थे जब कि किसी बात पर निर्णय लेने का समय आ जाता था। ज़मींदारों से बातचीत करने के पहले वे ऐसे कांग्रेस-जनो से मिलते थे, जिनको वे समझते थे कि उनको किसानों के मामलों में दिलचस्पी है। वे उनकी राय जान लेते थे और उन्हींके आधार पर वे ज़मींदारों से बातचीत करते थे। इस बातकी तो आशा न थी कि ज़मींदार, किसानों की सबकी-सब मांगें मान लेंगे। फिर भी मौलाना और बा० राजेन्द्रप्रसाद नै शक्तिभर उन्हें किसानों की मांगों के निकट लाने का प्रयत्न किया।

ये पेचीदा सवाल थे जिनकी बातचीत में बड़ी सावधानी की आवश्यकता थी। मौलाना ने मुझसे कहा, “पहले मैंने उनको मौलिक सिद्धांतों पर राज़ी किया अर्थात् पहले किसानका बोझ हलका करके के लिए राज़ी कर लिया ताकि वह जिन्दा रह सके। जब वे इस बात पर राज़ी होगये, तब, दूसरा सवाल आया कि कितना प्रतिशत हलका किया जाय। जब यह भी एक तरह से तय होगया तब ऐसे किसानो का सवाल उपस्थित हुआ जो आसानी से लगान देने में असमर्थ रहते हैं। लगान के कानून ऐसे थे कि ज़मींदार, किसान को एकदम बरबाद करके छोड़ सकता था और उसे उसकी सभी मिल्कियत से वंचित कर सकता था। लेकिन, एक बार न्याय के सिद्धान्त को मान लेने के बाद, वह किस तरह किसान की ज़मीन और जायदाद ऐसे दामों में बेचने पर अड सकता था जो बिना चुकाये हुए लगान से अधिक हो? एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि सबकी-सब बातचीत इसी सवाल पर रुककर भग हो जायगी। हमने प्रधान मन्त्री को इस बात पर राज़ी किया कि वे असेम्बली की बैठक उस समय तक स्थगित रखे, जब तक और बातचीत जारी रहे। मैंने ज़मींदारों से अनुरोध किया कि जो भी वे करना चाहे वह गौरव के साथ करे। ऐसा न करे कि जो वे देना चाहते हैं उसे एक हाथ से देकर दूसरे हाथ से निकाल ले। मैं अभिमान से कह सकता हू कि उन्होंने मेरी बात उर्सा शान से मान ली। इसका नैतिक असर बड़ा ही उत्कृष्ट रहा। कई जगहों में तो यह देखा गया कि ज़मींदारों ने कानून बनने के

पहले ही इस समझौते को अमल में लाना शुरू कर दिया, मानो उनके लिए समझौता ही सरकारी कानून हुआ।”

और वास्तविक नतीजा भी कम महत्व का नहीं था। वह भी काफी लाभदायक सिद्ध हुआ। सामान्यतः २५ सैकड़ा लगान घटा दिया गया और कहीं-कहीं तो ४० से ५० सैकड़ा तक इससे किसानों को ऐसे अधि-कार मिले, जिनसे लगभग वे जमीन के मालिक बन गये। बस, बात इतनी रही कि उनको लगान अवश्य देना पड़ता है। अब उनकी बल-सम्पत्ति अथवा घरबार कुड़क नहीं किये जा सकते, अथवा बकाया लगान की वसूली में बेचे नहीं जा सकते। जमीन तो पूरी की पूरी बेची ही नहीं जा सकती—सिर्फ उतना ही हिस्सा बेचा जा सकता है, जिससे बकाया लगान वसूल हो सके—वह भी ऐसे दामों में जिसको सरकार उचित समझे। जमींदार बकाया लगान वसूल करने के लिए बेचें तो इससे उन्हें जमीन के पूरे-पूरे दाम मिल सकते हैं, अभी वे अपनी जमीन बेचने के लिए अथवा हस्तान्तरित करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अगर किसान बिके हुए हिस्से का तथा अपने पास रखे हुए जमीन के हिस्से के लगान का विभाजन करना चाहे तो भी कर सकते हैं, किन्तु जमींदार को थोड़ा नज़राना देकर। अब सभी हस्तान्तरों को मानने के लिए जमींदार बाध्य है। किसान को अपनी ज़मान पर घर बनाने, बगीचा लगाने अथवा कुआँ खोदने का अधिकार है। उनकी बकाया लगान के लिए बेदखली नहीं हो सकती। इस तरह वे जमींदार से लगभग मुक्त हो गये हैं। अब बात इतनी रह गई है कि उन्हें जमींदार को लगान चुकाना पड़ता है, और वह भी पहले से कम।

एक और भी लाभ हुआ था। काश्त की आमदनी पर टैक्स लगाने का प्रश्न, जमींदार और सरकार के बीच के समझौते के बग़ैर हल नहीं हो सकता था। यह प्रश्न सर्व प्रथम बिहार में उपस्थित हुआ। प्रसन्नता की बात है कि मौलाना और बा० राजेन्द्रप्रसाद के हस्तक्षेप से यह समझौता होगया और यह इनकम टैक्स, कानून द्वारा सर्वप्रथम बिहार में जारी हुआ; और इसी वजह से समस्त भारत में। इसमें विशेषता यह है कि जमींदारों ने अपनी खुशी से इस कानून को पास होने दिया। इस कानून के द्वारा उन पर प्रतिवर्ष ४० से ५० लाख रुपये तक बोझ

पड़ा। एक तरफ लगान घटाने के कारण उन्हें प्रति वर्ष दो से ढाई करोड़ की हानि उठानी पड़ी दूसरी तरफ उतना ही लाभ किसानों को हुआ।

मे बा० राजेन्द्रप्रसाद का आभारी हूँ कि उन्होंने इन बातों की तफ-सील देने के साथ-साथ मौलाना ने जो इन बातचीतों में हिस्सा लिया था, उसकी बड़ी प्रशंसा की, जिसको मैं जैसा का तैसा यहाँ देता हूँ

‘जमींदार और किसानों के बीच की बातचीत में मौलाना की महा-तीव्र बुद्धि और समझाने की शैली ने बड़ा काम किया। शुरू-शुरू में उन्हें कुछ भ्रष्टचन प्रतीत हुई। कारण, कि उन्हें बिहारके लगान-कानून से परिचय न था। लेकिन बातचीत की प्रगति के साथ उन्होंने इस पचीदा कानून का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिससे तुरन्त निर्णय करने में वे समर्थ होते थे। इस ज्ञान प्राप्ति से, इससे भी बढ़कर वे दूसरों को अपने विचार का बना लेते थे। पहले भ्रवसर पर बातचीत कई दिनों तक चलती रही और बहुत-सी बातें तय हुईं; लेकिन मौलाना को दूसरी बार पटना आकर काफी दिन ठहरना पड़ा। इस तरह कांग्रेस और जमींदारों के बीच का समझौता लम्बी बातचीत के बाद हो सका। हमने किसान सभा को जान बूझ कर इस बातचीत से अलग रखा, क्योंकि, हम नहीं चाहते थे कि अगर वे उचित समझे तो इससे भी अधिक के लिए आन्दोलन करने की उनकी स्वतन्त्रता सीमित न की जाय। हम इस विचार के थे कि जमींदारों की सम्मति से ऐसे कानून जल्दी बन सकते हैं और किसानों को वाञ्छित सहायता भी जल्दी दी जा सकती है बजाय इसके कि जमींदारों के भीषण विरोध के रहते ऐसे कानून बनाये जाय। पदग्रहण करने के कुछ महीनों के भीतर ही यह कानून पास किया गया और मंत्रिमण्डल के पदत्याग तक बहुतसी जगहों में नये कानून की कार्रवाई समाप्त हो चुकी थी तथा प्रान्त के एक बड़े हिस्से में काफी सफलता भी मिल चुकी थी। मैं समझता हूँ बिहार ही केवल ऐसा प्रान्त है, जहाँ कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने किसानों को जो सहायता पहुँचाने का इरादा और निश्चय किया था उसे करके भी दिखा दिया। दोनों बातों में, लगान कानून और काश्त पर इनकमटैक्स कानून बनाने की बातचीत में जब बातचीत के भंग होने की नौबत आ गई थी तो मौलाना की कार्य-कुशलता, समझने की शैली तथा बुद्धि की तत्परताने ही बिगड़ी बात बनाई थी।’

: १४ :

युद्ध-संकट

लेकिन रचनात्मक कार्य के प्रयत्नों को अधिक समय तक जारी रखना कांग्रेस के भाग्य में न था। अन्तर्राष्ट्रीय संकट के बादल, जो एक साल से क्षितिज पर उमड़ रहे थे, विगत सितम्बर में हम पर फट पड़े। इस संकट ने देश को वास्तविकता की भावना से यकायक जागृत कर दिया। हम इस विश्वास में पड़े हुए थे कि प्रान्तीय स्वशासन के थोड़े-बहुत अधिकारों द्वारा हम अपने स्वतन्त्रता के ध्येय की ओर बढ़ रहे हैं। लेकिन युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि हम लोगों ने वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया था। हम अब भी पराधीन थे। युद्ध घोषणा के पहले ही भारतीय सेना बिना केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की अनुमति के सिगापुर और मिन्न भेजी जा चुकी थी और युद्ध छिड़ते ही हिंदुस्तान को युद्धलिप्त घोषित कर दिया गया, मानो हिंदुस्तानकी न कोई आवाज है न इच्छा, न वह उसका कोई अधिकारी ही हो सकता है। भारतीय शासन-विधान के सशोधन द्वारा प्रान्तीय स्वशासन की जो थोड़ी-बहुत जीवन-ज्योति टिमटिमा रही थी, उसे भी बुझा दिया गया। जिसका नतीजा यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तों के रोजमर्रा के शासन में हस्तक्षेप करने में समर्थ हुई और वाइसरायके स्वेच्छाचारी अस्थायी कानूनों (आर्डिनेन्सो) का राज्य प्रारंभ हुआ। इन बातों से भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता था, और ये बातें कांग्रेस कार्य-समिति के लिए पर्याप्त थी कि वह अपने मंत्रियों को त्याग-पत्र देने के लिए कहे और सरकार को उसके युद्धकार्यों में सहयोग देने से अपनी असमर्थता घोषित करे। लेकिन कांग्रेस-कार्य-समिति ने अपनी नीति निर्धारित करने के पहले ब्रिटिश-सरकार से लोकतंत्र और साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में अपने युद्ध-लक्ष्य की

घोषणा करने का आह्वान किया। इसके बाद क्या हुआ, इसकी याद उस अंग्रेज और भारतीय को जो हलचलों से परिचित रहता है—अब भी ज्यों-की-त्यों बनी है।

शुरू-शुरू में इसके जवाब में सरकार का रुख कुछ डराने-धमकाने तथा बदनाम करने का था। बाद में उसने “भेद करो और शासन करो” की नीति का सम्पूर्ण वेग से प्रयोग किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधीजी की सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थी और उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति को सलाह भी दी थी कि वह नैतिक सहयोग प्रदान कर। लेकिन, कार्य-समिति के लोग तो—कह सुनकर सासारिक पुरुष थे और उन्हें इस बात का विश्वास न था कि वे गांधीजी की सलाह का अनुसरण करके राष्ट्र का भी साथ ले सकेंगे या नहीं। तथा बात को पक्की कराने के लिए कुछ कहने में किसी तरह अपमान भी न था। उपनिवेशों ने पिछले महायुद्ध के दौरान में साम्राज्य के विभिन्न अंगों को स्वशास्ति घोषित करने पर जोर दिया था। जैसा कि मौलाना ने अपने अध्यक्ष-पद के भाषण में कहा है—“राष्ट्र पर राष्ट्र युद्ध की भट्टी में भोंके जा रहे हैं। इस प्रलयकारी बाढ़ में कूदने के पहले, क्या हम अपनी बुद्धि और वास्तविकता से इतना नाता तोड़ दें कि यह भी न पूछें कि यह सब क्यों हो रहा है और इसका हमारे भाग्य से क्या सम्बन्ध है?”

बाद की घटनाओं ने सिद्ध किया है कि कार्य-समिति का व्यावहारिक दृष्टिकोण सही था और ब्रिटिश-नीतिज्ञों की घोषणाओं ने सिद्ध किया कि कार्य-समिति ने युद्ध लक्ष्यों को जानने के लिए अड़कर एक तरफ गांधीजी को निराश किया और दूसरी तरफ उनकी भी आखें खोल दी। जल्दी ही गांधीजी को मालूम हो गया कि उनकी धारणाओं ने ब्रिटिश-सरकार को आवश्यकता से अधिक सहायता पहुंचाई। कहने की आवश्यकता नहीं कि कार्य-समिति के एक प्रमुख सदस्य की हैसियत से मौलाना को युद्धारंभ के बाद से कांग्रेस के निर्णयों में बहुत बड़ा पार्ट भदा करना है।

इतिहास इस बात का निर्णय करेगा कि दो मार्गों में कौन-सा मार्ग आदरणीय था अथवा कौन-सा अनादरणीय। कांग्रेस का ब्रिटिश-सरकार द्वारा युद्धलक्ष्यों की घोषणा पर जोर देना अथवा जिस तरह ब्रिटिश-सरकार ने कांग्रेस की मांग का जवाब दिया, उसे मानना। “भेद करो और

शासन करो" की नीति ने गोलमेड कॉन्फ्रेंस के अवसर पर साम्प्रदायिक एकता के सभी प्रयत्नों को मिट्टी में मिला दिया और उसने उस साम्प्रदायिक एके की—जो सन् १९३३ में लगभग सफल हो चुका था—एक दम कम्बर ही तोड़ दी। लेकिन साम्प्रदायिक तनातनी इनकी विकृत अवस्था की चरम सीमा तक कभी नहीं पहुँची थी जितना कि वर्तमान संकट काल में। सभी संभव समूहों एवं दलों को, जिनकी काल्पनिक शिकायतें गलत रही हों अथवा सही, निमंत्रित करके एक सूत्र में बांधा गया और दुनिया को दिखाया गया कि "कांग्रेसी भारत" से "गैर कांग्रेसी भारत" अधिक व्यापक है। कांग्रेस इन चालबाज़ियों से न तो घबराई

निराश हुई। उसने ऐसे विधान को स्वीकार करने की अपनी रज़ामन्दी घोषित की, बालिश अथवा इसी तरह के मताधिकार द्वारा चुने हुए "कांग्रेसी" अथवा "गैर कांग्रेसी" प्रतिनिधियों से बने। मुसलिम लीग को यह मजूर न था। उसे तो अल्पसंख्यकों को बचाना अधिक प्रिय था।

पिछले कुछ महीनों से मुसलिमलीग ने जो रवैया अस्तित्वार किया है उसकी याद अभी हमारे दिलों में ताज़ा है। हर अवसर पर कांग्रेस ने समझौते के लिए तत्परता दिखाई, लेकिन, उसने समस्त मुसलिम भारत की ओर से बोलने का अनापशानाप दावा पेश करके उसे असंभव बना दिया। कांग्रेस जब अधिकारारूढ थी, उस समय उसने उसके मंत्रियों को हटाने की कोई कोशिश नहीं की। उन्हें कोई ऐसा अवसर ही नहीं मिला जिसके बल पर वे प्रान्तीय गवर्नरों से अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करने का अनुरोध करते; क्योंकि, ऐसे विशेषाधिकारों के लिए कांग्रेस मंत्रियों द्वारा कोई अन्याय नहीं हो पाया था। इतना ही नहीं जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दिया तब मुसलिमलीग के कुछ सदस्यों ने उनसे पद-त्याग न करने का अनुरोध किया था। लेकिन पद-त्याग करते ही उन्होंने "मुक्ति-दिवस" मनाकर संतोष प्रदर्शित किया तथा यह ज़ाहिर किया कि मुसलमानों का "बहुसंख्यकों के शासन" से पिण्ड छूटा एवं एक-के-बाद एक अनापशानाप माँगें पेश करना शुरू किया। अब तो उन्होंने इन अनापशानाप माँगों की हद कर दी है और इस बात पर अड़ गये हैं कि हिन्दुस्तान को "मुसलिम हिन्दुस्तान" और "हिन्दू हिन्दुस्तान" बना कर दो हिस्सों में बाँट दिया जाय। उनका अभियोग है कि कांग्रेस-मंत्रि-

मण्डल मुसलिम विरोधी थे, यह अभियोग न केवल कांग्रेस के विरुद्ध है बल्कि मौलाना के भी। अगर उनका अभियोग कांग्रेस के विरुद्ध सही है तो निश्चय ही कांग्रेस कार्यसमिति एवं पार्लियामेण्टरी उप-समिति के एक प्रमुख सदस्य की हैसियत से कांग्रेस में अपना पद बनाये रखने के अभियोग में मौलाना अपने सम्प्रदाय के लिए गद्दार सिद्ध हुए। इससे बढ़कर नासमझी और बेतुकेपन के अभियोग की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन मौलाना ने अपने शान्त और निष्कपट वक्तव्य में इसकी खूब छान-बीन की, जिसका महत्वपूर्ण अंश ज्यों-के-रथों यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है :

“और अब, जब कि उसने आठ प्रातों में ऐसी सत्ता का परित्याग किया, जिसको उसने स्वरुचि और स्वेच्छा से चुना था, तब ऐसे अवसर पर मुसलिमलीग के अध्यक्ष की मुसलमानों के लिए क्या सलाह होनी चाहिये ? यही कि, वे मसजिदों में जाकर कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों से मुक्त होने की खुशी में परमात्मा को धन्यवाद दें; क्योंकि, कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों ने अधिकार से बढ़कर कर्तव्य को महत्व दिया था, और अब उन्होंने न केवल भारत की स्वतन्त्रता के लिए परित्याग किया है बल्कि पूर्वीय देशों की पद-दलित जनता के अधिकारों के लिए भी। यह मेरे लिए कल्पना करना भी मुश्किल है कि मुसलमानों का कोई दल, चाहे उसकी कांग्रेस से कितनी ही रंजिश क्यों न हो, कांग्रेस को इस विकृत रूप में दुनिया को दिखाना किस तरह बरदाश्त कर सकेगा।

“मुसलमानों को यह पूरा हक है कि वे अपने अधिकार और हितों के लिए जैसा उचित समझें वैसा आन्दोलन करें। लेकिन यह उनका आपसी ऋगडा है। उन्हें ऐसा कोई कदम न उठाना चाहिये जिसका हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता के विरुद्ध उपयोग किया जाना संभव हो। खेद है कि श्रीयुत जिन्ना उन्हें इस बदनसीब अवस्था की ओर घसीटे जा रहे हैं। इसका साफ़-साफ़ अर्थ है कि मुसलमानों को हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता के मार्ग में रोड़ा बनाया जा रहा है। मैंने सन् १९१२ में इस बात की चेतावनी दी थी। आज २७ साल के बाद फिर से उसी चेतावनी की आवश्यकता को देखकर मेरा कलेजा एकदम छलनी-छलनी हो उठता है।

“और फिर श्रीयुत जिन्ना, क्यों मुसलमानों को “मुक्ति-विक्स”

मानने की सलाह दे रहे हैं ? इसलिए कि "कांग्रेसी मंत्री-मण्डलों" के सभी अत्याचारों से वे बच गये । उपरोक्त 'अत्याचार' किस प्रकार के थे और वे किस हद तक फैले थे ? श्रीयुक्त जिन्ना के शब्दों में 'कांग्रेसी मंत्री-मण्डल निश्चित रूप से मुसलिम विरोधी नीति से प्रेरित थे और उन्होंने व्यवस्था के कर्तव्य पालन में तथा धारा सभाओं में मुसलिम संस्कृति को धूल में मिलाने के उद्देश्य से मुसलिम मत की कोई परवाह नहीं की तथा उनके धार्मिक और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप किया एवं उनके आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों को पैरों तले रौंदा ।' अब, अगर हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लेते हैं कि श्रीयुक्त जिन्ना ने जो चित्र खींचा है वह सही है, तो हमें देखना चाहिये कि उससे क्या नतीजा निकल सकता है । नतीजा बिल्कुल साफ है । आठ प्रान्तों की सरकारें मुसलमानों के धार्मिक और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप करती रही । उन्होंने उनके आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों को कुचला तथा यह ऊधमबाजी केवल थोड़े ही दिनों तक नहीं चली बल्कि यह अविच्छिन्न रूप से लगातार ढाई वर्ष तक बराबर जारी रही । ऐसी असंभव परिस्थितियों में हिन्दुस्तान के आठ करोड़ मुसलमानों ने इनके रोकने के लिए कौन-सा कदम उठाया था ? सिर्फ यही कि वे कांग्रेसी मंत्री-मण्डलों द्वारा उन पदों के त्याग की प्रतीक्षा तीस महीने तक करते रहे जो उन्होंने अपनी स्वेच्छा और स्वरक्षि से ग्रहण किये थे और जब उनका यह स्वप्न सही साबित हुआ तब उन्होंने सर्वशक्तिमान् परमात्मा की ओर दोनों हाथ उठाकर उसे हृदय से धन्यवाद दिया और इज्जतिलकी सन्तान के समान ढिंढोरा पीटना शुरू किया कि अन्त में उनकी मुक्ति का दिन आ गया । हिन्दुस्तान के मुसलमानों की कैसी आदरणीय तस्वीर बनाकर श्री० जिन्ना दुनिया के सामने पेश करना चाहते हैं ।

"मुसलमान होने के नाते ऐसी अपमान-जनक तस्वीर को एक क्षण भी बरदाश्त करना मेरे लिए असंभव है । मैं इस बात में विश्वास करने से एकदम इन्कार करता हूँ कि हिन्दुस्तान के आठ करोड़ मुसलमान इस हद तक निकम्मे और लाचार हो सकते हैं कि बावजूद इस तथ्य के कि देश की आठ सरकारें ढाई साल तक लगातार उनकी संस्कृति को धूल में मिलाती रहीं, उनके आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों को पैरोंतले रौंदाती

रही, उनके धर्म में हस्तक्षेप करती रही और वे 'मुक्ति दिवस' के प्रभात की प्रतीक्षा में ज़बानों पर ताले डाले टकटकी लगाये खड़े रहे। यह हिन्दुस्तान के मुसलमानों के आत्माभिमान के भाव का प्रत्यक्ष अभिमान है। यह तो भ्रमृत के स्थान पर उन्हें विषपान कराना है। वह ज़माना तो कभी का लद गया जब कि लोग ऐसी आत्याचारी सरकारों को बर-दास्त कर सकते थे। आजकल तो किसी भी प्रान्तीय सरकार को श्री जिन्ना द्वारा दर्शाए उनके आत्याचारों के बाद थोड़ी देर के लिए भी शासन चलाना असंभव है। वे कहते हैं कि प्रत्येक कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने निरपवाद रूप से एक-सा ही रवैया रखा था। मैं इस बात का अनुमोदन करता हूँ कि एक भी मन्त्रि-मण्डल ऐसा रवैया अपनाता तो निश्चित रूप से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में अपने अस्तित्व का इतना खयाल है कि वे 'मुक्ति-दिवस' को मनाने के लिए श्री जिन्ना के किसी सुझाव की प्रतीक्षा में नहीं सकते। वे थोड़े ही दिनों के अन्दर मन्त्रि-मण्डलों का जीवन-काल घटा देते। क्या हिन्दुस्तान के मुसलमान विवेकहीन और कायर हैं ? नहीं। लगातार ढाई साल तक अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप होना, और अपने आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों का कुचला जाना देखकर उन्होंने चैन की नीद नहीं ली होती।

‘इस सिलसिले में यहाँ यह ध्यान में रखना जरूरी है कि श्री जिन्ना द्वारा लगाया हुआ आरोप यह नहीं है कि कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल उन तमाम बातों में असफल रहे जिन बातों के द्वारा वे साम्प्रदायिक वातावरण को सुधार सकते थे अथवा किसी एक या अधिक प्रान्तों के मुसलमानों को किन्हीं खास मामलों में शिकायत है या मन्त्रि-मण्डलों ने शासन व्यवस्था की कुछ गलतियों की। अगर शिकायतों का यह भाव होता तो उन्हें विवेक हीन नहीं समझा जाता और शिकायतों की जाच के लिए न्यायो-चित्त सामग्री उपस्थित होती। लेकिन श्री० जिन्ना ऐसे व्यक्तियों में से नहीं हैं, जो निशानी के बस बीच के पायदानों तक ही जाना पसन्द करें। उनका प्रत्यक्ष आरोप यह है कि 'कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की नीति मुसलिम-विरोधी रही। वे बराबर और लगातार मुसलिम संस्कृति को धूल में मिलाते रहे, वे लगातार धार्मिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप

करते रहे तथा मुसलमानों के आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों को पैरों तले रौंदते रहे ।

“मे पहले भी घोषित करता आया हूँ, और अब भी उत्तरदायित्व के सभी संभव भावों से घोषित करता हूँ कि कांग्रेसी मंत्री-मण्डलों के विरुद्ध वे सब आरोप बिलकुल निराधार हैं । यह कहना कि कांग्रेसी मंत्री-मण्डलों की नीति ‘निश्चित रूप से मुसलिम विरोधी’ रही है और वे मुसलमानों के धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों को पैरों-तले रौंदते रहे हैं—असत्य का पहाड़ खड़ा करना है ।

“यह श्री जिन्ना का अथवा किसी का भी—जो ऐसे आरोपों को उपस्थित करना चाहता है—कर्तव्य है कि संसार में प्रचलित किसों भी उपाय से सिद्ध करे । अगर वह ऐसा करने में असमर्थ है तो प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य उनसे इस बात की आशा करेंगे कि वे अपनी भाषा और कलम पर रोक थाम रखें ।

“यहां यह अवसर नहीं है कि, मे कांग्रेसी मंत्री-मण्डलों की दो साल की कारगुजारी में, मुसलमानों की उन शिकायतों के बारे में जो मेरी नज़रों में आई, अपना निजी दृष्टिकोण बताऊँ । मे उनका विस्तृत वर्णन भविष्य मे किसी और अवसर पर करूँगा । मे यहां संक्षेप मे कहना चाहता हूँ कि इस अवधि में जो भी शिकायत मेरी नज़रों में आई उसकी खूब छानबीन की गई । पार्लियामेण्टरी उपसमिति के मेरे सभी साथी, कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य, प्रान्तों के मंत्रीगण तथा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारी जानते हैं कि ऐसे मामलों में मेरा दखल कितना कम और समन्वय-रहित था । मे केवल मंत्रियों के जवाबों से सन्तुष्ट नहीं होता था और मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि मे ऐसे मामलों के कागज़-पत्तर स्वयं न देखूँ और हर बात की कड़ाई से छानबीन न करूँ ।

“इस सिलसिले में मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि श्री० जिन्ना के आरोपों में अंशमात्र भी सच्चाई होती तो मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ, जो कांग्रेसी मंत्रीमण्डलों का एक दिन भी अपने पवों पर टिके रहना बरदास्त करता ।

“यदि श्री० जिन्ना और उनके साथी यह सोचते हैं कि वे ये बातें

मुसलमानों की भलाई के लिए कर रहे हैं, तो मैं उन्हें अत्यन्त सद्भाव से कहूंगा कि वे बिल्कुल इसके विपरीत कर रहे हैं । वे हिन्दुस्तान के मुसलमानों की सच्ची सेवा ऐसी सच्ची सेवा—जिसकी आज भारतीय मुसलमानों के लिए अत्यन्त आवश्यकता है । करेंगे, यदि वे शीघ्र-से शीघ्र अपनी दिशा का रुख बदलेंगे ।

: १५ :

कर्णधार

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की उम्मेदवारी, कांग्रेस-प्रतिनिधियों की राष्ट्रीयता, उनका हिन्दू-मुसलिम एकता में विश्वास तथा अभूतपूर्व संकट-काल के अवसर पर देश के भाग्य की बागडोर को एक मुसलिम नेता के हाथ में सौंप देने के उनके साहस की अग्नि-परीक्षा थी। एक प्रचण्ड बहुमत से उन्होंने उनमें अपना विश्वास प्रकट किया। इस तरह के विश्वास का प्रदर्शन तो वे सन् १९३८ में भी प्रकट कर सकते थे, लेकिन हमारे देश के इस नाजुक अवसर पर उनका यह विश्वास-प्रदर्शन एक विशेष महत्व रखता है। मुझे मौलाना से उस बात का खुलासा करने का अवसर मिला था, जो उन्होंने अपनी लाहौर की मुलाकात में कही बताते हैं कि—अब धारासभा के कार्यक्रम को एक तरफ हटा दिया गया और उन्हें अध्यक्ष बनने की अनुमति देने में कोई दिक्कत नहीं है। इसका मौलाना ने जवाब दिया—‘मेरे कहने का मतलब था, धारासभा का काम खत्म हो चुका है। मंत्रि-मण्डलों को पद-त्याग करने के लिए आदेश देने वाले प्रस्ताव को तैयार करने में मेरा भी हाथ था और अगर मुझे अगली कांग्रेस का अध्यक्ष होने के लिए कहा जाता है और मैं उससे इन्कार करता हूँ तो उस प्रस्ताव के स्वाभाविक नतीजों की जवाबदेही से मुंह मोड़ने का उचित आरोप मुझ पर लगाया जा सकता है। अगर सरकार अपना रवैया बदलती नहीं, तो हमारी पक्की धारणा है कि कमी-न-कमी हमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन करना ही होगा। और मैं यह नहीं चाहता था कि कोई कहे अथवा महसूस करे, इस लिए मैं डर गया था और फिर सामान्य समय में मुझ पर उनका विश्वास होना तो अच्छी बात समझी जा सकती है; लेकिन आज के समान इस नाजुक घड़ी में भी उनकी मुझ पर निष्ठा बनाये रखने की भावना ने

मुझे हमी भरने के लिए बाध्य किया।" मैं समझता हूँ उनके अध्यक्ष-पद के अभिभाषण तथा रामगढ़ कांग्रेस में सभा की कार्रवाई को चलाने के तरीके ने, जनता द्वारा उनके प्रति विश्वास को आवश्यकता से अधिक सिद्ध किया। उनका अभिभाषण उनके स्वभावानुरूप ही था, बिल्कुल संतुलित वक्तृत्व, सामयिक प्रश्न से एक शब्द भी बाहर नहीं तथा विषयान्तर न होने की पूरी सावधानी से उन्होंने अपने भाषण को सीमित कर दिया था। यदि, पटना में कांग्रेस-कार्य-समिति ने केवल एक ही प्रस्ताव पास करने का निश्चय किया था, तो मौलाना ने भी अपने अभिभाषण में केवल एक ही महत्वपूर्ण विषय की सभी पहलुओं से चर्चा की। उसमें न तो एक अनुच्छेद प्रर्थहीन था और न एक शब्द बेकार। इस अभिभाषण का सरसरी तौर से सिंहावलोकन करना उपयुक्त ही सिद्ध होगा। मौलाना की शैली तथा अभिव्यक्ति का ढग जो जानना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि उनके अभिभाषण को पूरा-पूरा पढ़ें। इंग्लैंड में तो भारतीय महासभा के अध्यक्ष के अभिभाषण जैसे महत्व की चीज़ भी पढ़ी नहीं जाती। रूटर निरा साराश भेजता है और 'टाइम्स' तथा 'डेली टेलीग्राफ' जैसे पत्र तीस-चालीस पक्तियों में ही उसका साराश देकर छोड़ देते हैं। और यही बात मौलाना के अभिभाषण की भी हुई है।

लेकिन फिर भी यहा अभिभाषण का साराश ही देना है। मौलाना ने अपने अभिभाषण का प्रारम्भ कांग्रेस प्रस्तावों की उस नई विचार-धारा के उल्लेख के साथ किया, जिसका सूत्रपात सन् १९३६ में हुआ था और जिस विचार-धारा के जन्म का श्रेय उन्होंने स्वयं अपने आप को दिया। यहा यह स्मरणीय बात है कि सन् १९१२ में जब 'अलहिलाल' पत्र का जन्म हुआ था, मौलाना ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के अध्ययन पर जोर दिया था, जिस ओर लोगों का काफी ध्यान आकर्षित हुआ था। अतः जब पं० जवाहर लाल नेहरू ने सन् १९३६ में कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से ऐसी विश्व-समस्याओं पर कार्रवाई करने की सलाह दी थी, तो यह बात मौलाना को खूब पटी थी। "शायद, कांग्रेस के इतिहास में लखनऊ के सन् १९३६ के अधिवेशन में एक नई विचार-धारा की बुनियाद डालकर तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर एक लम्बा प्रस्ताव पास करके जनता के सामने अपने स्पष्ट और विशुद्ध विचार रखे थे।

इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार विनिमय करना और उसपर एक प्रस्ताव पास करना कांग्रेस-घोषणाओं का एक महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग बना। इस तरह इस विषय पर अपनी राय दुनिया के सामने पूर्ण विचार विनिमय के बाद रखी जाने लगी। इन प्रस्तावों में दो बातों की घोषणा एक ही साथ की जाने लगी। पहला, हमने कहा—जिसका मैंने भारतीय राजनीति में नई विचार धारा के तौर पर वर्णन किया है—कि हम बाह्य जगत् की राजनैतिक घटनाओं से—अपनी वर्तमान लाचारी की अवस्था में भी—अलग नहीं रह सकते। यह आवश्यक है कि हम आगे बढ़ते हुए तथा अपने भविष्य का रास्ता साफ करते हुए अपने-आप को केवल अपने एकांगी वानावरण में ही सीमित न रखें; बल्कि हमें चाहिये कि बाह्य जगत् की स्थितियों पर अपनी तीखी नज़र रखें। दुनिया के असंख्य परिवर्तनों ने देशों और राष्ट्रों को एक दूसरे के पास लाकर खड़ा कर दिया है, जिसके फलस्वरूप, ससार के एक कोने में उठने वाली विचार और कार्य की लहरें दूसरे स्थानों में फ़ौरन अपना असर दिखाने लगती हैं। यह अनिवार्य है कि बाह्य जगत् की घटनाएँ हिन्दुस्तान में भी अपना असर दिखाये। इसी तरह यह भी समान रूप से अनिवार्य है कि हमारे निर्णय और हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थितियाँ दुनिया के बाकी हिस्सों पर असर डालें। इन्हीं विचारों और विश्वासों से हमारे निर्णय बने। इन्हीं प्रस्तावों द्वारा हमने वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विरुद्ध नाज़ीवाद और फ़ासिस्टवाद जैसे आन्दोलनों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया। ये आन्दोलन दिन-पर-दिन बल प्राप्त करते जा रहे थे और हिन्दुस्तान ने इन्हें जगत् की प्रगति और शान्ति के लिए बड़ा जबरदस्त ख़तरा समझा। हिन्दुस्तान का मस्तिष्क और अन्तःकरण उन राष्ट्रों के साथ था जो लोकतन्त्र और स्वातंत्र्य पर डटे रहकर इस प्रतिक्रियावादी लहर का प्रतिरोध कर रहे थे।”

उन्होंने इस बात को साफ़ किया कि हिन्दुस्तान की लड़ाई अंग्रेज़ों से नहीं है, बल्कि जिस तरह वह नाज़ीवाद से लड़ना चाहता है उसी तरह साम्राज्यवाद से भी—

“लेकिन जहाँ हम फ़ासिस्टवाद और नाज़ीवाद से पैदा हुए ख़तरों

पर विचार कर रहे थे वहा हमे उस पुराने खतरे को भुलाना भी असभव था जो राष्ट्र की शान्ति और स्वतंत्रता के लिए इन खतरो के कारण व्यापक-रूप से अधिक भयप्रद सिद्ध हुआ है और जिसने वस्तुतः इस प्रतिक्रिया की नीव मजबूत करने के लिए सामग्री पहुंचाई है। इन नये प्रतिवादी आन्दोलनों के समान ही इस साम्राज्य को हम दूर से खड़े-खड़े नहीं देख सकते। यह हमारे घर पर अधिकार जमाकर हम पर हावी हो चुका है। इसी कारण हमने साफ-साफ शब्दों में बता दिया था कि अगर इन नई उलझनों के फलस्वरूप यूरोप में युद्ध छिड़ गया तो हिन्दुस्तान, जिसको अपनी स्वतंत्र इच्छा का उपयोग करने तथा स्वतंत्र रूप से निर्णय करने की पाबन्दी है, उसमें भाग न लेगा। इस प्रश्न पर वह तभी विचार कर सकता है, जब उसे स्वेच्छा और स्वरुचि से निर्णय करने का अधिकार मिले।

“हिन्दुस्तान नाज़ीवाद और फासिस्टवाद को अभिवृद्धि का बरदाश्त नहीं कर सकता लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद से वह उससे भी अधिक परेशान है। अगर हिन्दुस्तान अपने स्वाभाविक अधिकार—स्वतंत्रता—से वंचित रखा जाता है तो इसका स्पष्ट अर्थ होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी सभी परम्परागत विशेषताओं के कारण फूल और फल रहा है और ऐसी अवस्था में ब्रिटिश साम्राज्य की विजय के लिए हिन्दुस्तान किसी भी हालत में सहायता के लिए अपना हाथ बढ़ाने को तैयार न होगा। यह दूसरी घोषणा थी जो बारबार इन प्रस्तावों द्वारा दोहराई गई। ये प्रस्ताव जो युद्ध प्रस्तावों के नाम से प्रसिद्ध हैं, लखनऊ कांग्रेस के बाद से अगस्त सन् १९३९ तक बारबार दोहराए गये हैं।” आगे वे कहते हैं—

“लेकिन यह इच्छा का प्रश्न नहीं है। न ब्रिटिश सरकार की इच्छा के उगम का प्रश्न है। सीधा-सादा प्रश्न है हिन्दुस्तान के अधिकार का; आया वह अपने खुद के भाग्य का फैसला कर सकता है अथवा नहीं। इस प्रश्न के जवाब पर आज के तमाम प्रश्नों का जवाब निर्भर है। यह प्रश्न भारतीय समस्या की आधारशिला है। हिन्दुस्तान उसे हटाने नहीं देगा, क्योंकि, वह हटाया गया तो भारतीय राष्ट्रीयता की समस्त रचना ढह जायगी।

—“जहां तक युद्ध का प्रश्न है, हमारा रुख बिलकुल स्पष्ट है। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का रूप जिस तरह आज स्पष्टतया देख रहे हैं

उसी तरह उसे हमने गत महायुद्ध में भी देखा था। इसलिए हम युद्ध में साथ देकर उसकी विजय में सहायता पहुंचाने को तैयार नहीं हैं। हमारा मामला स्फटिक के समान स्पष्ट है। हम नहीं चाहते कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद विजयी हो और बलशाली हो, जिससे हमारी दासता की अवधि बढ़े। अतः हम युद्ध में हिस्सा लेने से बिल्कुल इन्कार करते हैं। कारण हमारा रास्ता बिल्कुल इसके विपरीत है।”

अन्त में उन्होंने कहा—

“जब से युद्ध छिड़ा है, तब से ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के बहुत से सदस्यों ने दुनिया को इस बात में विश्वास दिलाने के लिए प्रयत्न किया है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पुरानी परिपाटी समाप्त हो चुकी है और आज ब्रिटिश राष्ट्र के सामने शान्ति और न्याय के सिवा दूसरा लक्ष्य नहीं है। ऐसी घोषणा को सुन कर दुनिया में हिन्दुस्तान से बढ़कर किस राष्ट्र को अधिक खुशी होगी? लेकिन, वास्तविकता यह है कि बावजूद इन घोषणाओं के, ब्रिटिश साम्राज्यवाद शान्ति और न्याय के रास्ते में रोड़ा बनकर उसी तरह अड़ा हुआ है जैसा कि वह युद्ध के पहले था। भारतीय मांग इन तमाम घोषणाओं को परखने की कसौटी थी। उनकी परीक्षा करने पर सिद्ध हुआ कि वे नकली थी, असली नहीं।”

हिन्दू-मुसलिम एकता तथा अल्पसंख्यकों की समस्या पर उनके अभिभाषण का हिस्सा शायद ऐतिहासिक बात होकर रहेगी। जब से उन्होंने सन् १९१२ में ‘अल-हिलाल’ साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, तब से ही हिन्दू और मुसलमानों को विभक्त करने की नीति और चेष्टा के विरुद्ध निर्दयता से युद्ध जारी रखा है; और उन्होंने अपने अभिभाषण में घोषित किया :

“मैं अपने सहृदयियों को आज याद दिलाना चाहता हूँ कि बारह साल पहले मैंने इस समस्या पर भाषण करते समय जो रुख लिया था, उसी रुख पर मैं आज भी वैसा ही डटा हूँ। मैंने उन तमाम घटनाओं पर सोचा और समझा, जो तब से अब तक घटी हैं। मेरी आंखों ने उन्हें देखा और मेरे मस्तिष्क ने उन पर मनन किया। ये घटनाएं मुझे कतरा कर नहीं गईं। मैं उनके बीच में था। मैंने उनमें हिस्सा लिया और मैंने हर परिस्थिति का सावधानी से परीक्षण किया। मैं अपनी चारणाओं से

भगड़ा नहीं कर सकता। मैं अपने विवेक की पुकार को दबोच नहीं सकता। मैं इस समस्त अवधि में जो कुछ कहता आया हूँ उसे आज फिर दोहराता हूँ और कहता हूँ कि नौ करोड़ मुसलमानों के लिए कार्य का कोई दूसरा सही रास्ता नहीं है, सिवा इसके कि मैंने सन् १९१२ में जिस रास्ते पर चलने के लिए उन्हें आमंत्रण दिया था।”

वे इस कल्पना को घृणा के साथ अस्वीकार करते हैं कि मुसलमान अल्पसंख्यकों में हैं, अतः लोकतन्त्रीय संस्थाएं उनके स्वार्थ और अस्तित्व को चीपट कर देंगी।’

“राजनैतिक दृष्टि से अल्पसंख्यक का अर्थ केवल एक दल नहीं जो संख्या में कम है और केवल इसीलिए वह विशेष रक्षा का अधिकारी है। अल्पसंख्यक का अर्थ है, वह दल जो संख्या में इतना छोटा होता है और उसे शक्ति प्रदान करने वाले दूसरे गुण इतने कम होते हैं कि उसे घेरे हुए उससे कहीं अधिक बड़े दल द्वारा अपनी रक्षा करने में वह अपने बल पर विश्वास न रखता हो। इसलिए यह पर्याप्त नहीं कि यह दल सापेक्ष दृष्टि से छोटा हो, जिससे अपने स्वार्थों की रक्षा करने में असमर्थ हो। इस तरह यह केवल संख्या का प्रश्न नहीं है। इसमें दूसरी बातों की भी गणना है। अगर किसी देश में दो बड़े दल हैं, जिनमें एक की संख्या दस लाख है और दूसरे की संख्या बीस लाख, तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि क्योंकि एक की संख्या दूसरे से आधी है, अतः आधी संख्या वाला गिरोह अपने आपको राजनैतिक दृष्टि से अल्पसंख्यक कहे और कमजोर समझे।”

वे भागे कहते हैं—

“आज ग्यारह शतक बीत चुके। इस्लाम को भारत की भूमि पर उतना ही अधिकार है जितना हिन्दुत्व को। अगर कई हजार वर्षों से यहाँ के निवासियों का हिन्दुत्व धर्म है, तो, एक हजार वर्ष से इस्लाम भी उनका धर्म है। जैसे कि एक हिन्दू अभिमान के साथ कह सकता है कि वह हिन्दुस्तानी है और हिन्दुत्व को मानता है, उसी तरह हम भी उतने ही अभिमान से कह सकते हैं कि हम हिन्दुस्तानी हैं और इस्लाम को मानते हैं। इस की मैं जरा और भागे फैलाकर यों कहूँगा कि हिन्दुस्तानी ईसाई भी गर्व के साथ समान रूप से यह कहने का अधिकारी है कि

वह एक हिन्दुस्तानी है और हिन्दुस्तान के एक धर्म—ईसाइयत को मानता है।”

— अन्त में वे कहते हैं—

“क्या हम भारतीय मुसलमान भविष्य के स्वाधीन भारत को शंका और सन्देह से देखें अथवा साहस और विश्वास से ?

“यदि हम इसे शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं तो निःसन्देह हमें दूसरा ही मार्ग पकड़ना होगा। किसी भी तरह की घोषणा, किसी भी तरह का भविष्य के लिए वचन, किसी भी तरह के वैधानिक संरक्षण हमारे दिलों में बसे हुए भय और शंकाओं को दूर करने के लिए उपचार नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में लाचार होकर तीसरी शक्ति के अस्तित्व को बरदाश्त करना पड़ता है। तीसरी शक्ति यहाँ मजबूती से अपने पैर जमाये बैठी है, और उसके यहाँ से हटने का अथवा बिदा लेने का कोई इरादा नहीं है, और हम अगर भय के मार्ग का अनुसरण करने हैं तो हमें भविष्य में भी उसके अस्तित्व को सहना होगा। लेकिन, यदि हमारी चारणा है कि भय और शंका के लिए हमारे दिलों में कोई गुजाइश नहीं है, और हम अपने भविष्य की ओर साहस तथा विश्वास से देखते हैं तो हमारा कार्य-मार्ग बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। हम अपने-आपको नई दुनिया में पाते हैं, जो सन्देह की अधेरी परछाइयों, अस्थिरता, अकर्म-प्यता, और निरपेक्षता से मुक्त है तथा जहाँ विश्वास, दृढ़ निश्चय, कर्मप्यता और उत्साह की ज्योति कभी नहीं बुझती। समय की अस्पष्टता-मार्ग में आने वाले बढ़ाव-उतार तथा हमारे कटीले रास्ते को गड़बड़ा देने वाली अड़चने हमारे कदमों की दिशा को बदल नहीं सकती। ऐसी सूरत में हमारा अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि हम भारत के राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर आत्म-विश्वास के कदम उठाते हुए आगे बढ़ें।

“मैं इस नतीजे पर बगैर किसी संकोच के पहुँचा हूँ और मेरे शरीर का प्रत्येक ज़र्रा भारत की स्वाधीनता की ओर शंका और सन्देह से देखने के लिए ब्यावृत करता है। मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता और मैं सोच भी नहीं सकता कि किसी भी मुसलमान के लिए, जिसने अपने अन्दर से इसलामी भावना को अपने मन से जब तक जड़ से न निकाल दिया हो, तब तक इस तरह की बात को बर्दाश्त करना संभव भी है।”

यहां तक तो उन्होंने अपने अभिभाषण में मुसलमानों के बारे में कहा है। अब उन अंग्रेजों के बारे में जो साम्प्रदायिक प्रश्न के रोड़े का वर्णन करने में शकते नहीं, उन्होंने कहा—

“हम साम्प्रदायिक प्रश्न को अपने राष्ट्रीय ध्येय की प्राप्ति के लिए पहली शर्त मानते हैं। कांग्रेस का हमेशा से यही विश्वास रहा है। कांग्रेस की इस सच्चाई के लिए हमें कोई चुनौती नहीं दे सकता। कांग्रेस ने इस सिलसिले में दो मौलिक सिद्धान्तों को अपने सामने रखा और उसने जो भी कदम उठाया है इन सिद्धान्तों को कभी अपनी आखों के सामने से ओझल नहीं होने दिया।

“(१) हिन्दुस्तान के लिए जो भी विधान स्वीकृत किया जाय उसमें अल्पसंख्यकों के अधिकार और हितों की सम्पूर्ण रक्षा होनी चाहिये।

“(२) अल्पसंख्यक इस बात का स्वयं निर्णय कर ले कि उनके अपने अधिकार और हितों की रक्षा के लिए कितनी संरक्षणों की आवश्यकता है। इसका निर्णय बहुसंख्यक न करे। इसलिए इस बात का निर्णय अल्पसंख्यकों की सम्मति पर होना चाहिये न कि बहुसंख्यकों की राय पर ...

“विधान निर्मात्री समिति के सम्बन्ध में आज कांग्रेस ने जिस तरह कार्रवाई की उसमें इन दो सिद्धान्तों पर गहरा प्रकाश पड़ता है और उससे वे स्पष्ट भी हो जाते हैं। माने हुए अल्पसंख्यकों को अधिकार है कि यदि वे चाहे तो अपने प्रतिनिधि अपने मन से चुने। उनके प्रतिनिधियों को अपने खुद के मत के सिवा किसी दूसरे के मत पर अवलम्बित न होना पड़ेगा। जहां तक अल्पसंख्यकों के अधिकार और हितों का प्रश्न है, वहां तक विधान निर्मात्री समिति में निर्णय बहुमत की राय पर निर्भर नहीं होगा। वह अल्पसंख्यकों की अनुमति से ही होगा। अगर किसी समस्या का निर्णय सर्वसम्मति से न हुआ तो उसका फैसला ऐसी निष्पक्ष पंचायत करेगी जिसके निर्माण में अल्पसंख्यकों की भी सम्मति हो। यह अन्तिम शर्त इसलिए रखी गई है कि किसी अगले अवसर पर काम आवे लेकिन अधिक संभव यह है कि इस शर्त के उपयोग का अवसर ही न आ पाये। अगर इससे भी अधिक व्यावहारिक प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है तो कोई आपत्ति न होगी।”

अन्तिम घड़ी तक भी अगर ब्रिटेन और भारत में समझौता होना असंभव हो तो मौलाना को अचरज होगा। इसलिए वे अपने स्वाभाविक तरीके से प्रश्न करते हैं 'दुनिया की दो जातियों को, जो घटना-क्रमों के कारण एक दूसरे से शासक और शासित की हैसियत से बंधी हैं, आपस में एक नया संबंध स्थापित करना, जिसकी आधारशिला तर्क, न्याय और शान्ति हो, असंभव था ? अगर यह संभव होता तो विश्वयुद्ध के कारण बहने वाली दुख की नदियों के स्थान पर आशा की नई रोशनी चमक उठती और नूतन प्रभात के बाद तर्क और न्याय की नई व्यवस्था का सूर्य उगता। अगर आज अंग्रेज लोग यह बात गर्व के साथ कहने की अवस्था में होते कि उन्होंने इतिहास में एक नये उदाहरण का समावेश किया है, तो यह मानव जाति के लिए कितनी अपूर्व और अनुपम विजय की बात होती ! वस्तुतः यह असंभव न था, लेकिन इसका करना बेशक मुश्किल था।"

कांग्रेस का यह अधिवेशन अपवादोत्पन्न विकट वातावरण में हो रहा था। पहले दिन की कार्रवाई मूसलाधार वृष्टि के कारण असंभव हो चुकी थी। लेकिन मौलाना ने घोर वर्षा की तनिक भी परवाह न कर, कांग्रेस का उद्घाटन एक संक्षिप्त भाषण से किया और घोषित किया कि प्रस्ताव और संशोधनों पर दूसरे दिन विचार किया जायगा। दूसरे दिन बादलों के लक्षण कम भयावह न थे, फिर भी पचास हजार का जनसमूह वर्षा और तूफान का मुकाबला अपने आत्मबल और उल्लास से करने के लिए फिर से कांग्रेस की कार्रवाई में सम्मिलित हुआ था। अगर मौलाना कुछ संशोधनों को बगैर विचार किये ही छोड़ देते, तो भी उन्हें कोई कुछ कह नहीं सकता था, क्योंकि ये संशोधन ऐसे थे जिनको विषय निर्वाचिनी समिति में पर्याप्त समर्थन नहीं मिला था, अतएव वे अनुमति प्राप्त करने के अधिकारी भी न थे। फिर भी मौलाना ने सभी संशोधकों को काफी सहूलियतें दी और इस तरह कार्रवाई की समाप्ति के लिए लगभग चार घण्टे लग गये। ऐसे अवसर पर जनता ने कार्रवाई को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने में जो साथ दिया, इतनी संख्या में उपस्थित होकर कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ाई और अपनी सच्चाई की महत्ता का प्रदर्शन किया—इससे बढ़कर और क्या हो सकता था। समझौते का

दरवाजा बन्द करने के सम्बन्ध में अथवा तुरन्त सविनय अवज्ञा शुरू करने के सम्बन्ध में सब-के-सब सशोधन प्रचण्ड बहुमत से अस्वीकृत हुए और अकेले मूल प्रस्ताव को प्रतिनिधियों ने यह जानते हुए कि आन्दोलन शुरू करने के लिए गांधीजी ने महाबिकट शर्तें रखी थी, पास किया । गांधीजी ने उनसे कहा था “मुझे अपना सेनापति आप अपनी शर्तों पर नहीं बना सकते । अतः आप समझ लें कि मैं अपनी शर्तों पर अड़ा रहूंगा । ये शर्तें बड़ी विकट हैं । अगर आप उनका पालन न करेंगे तो मैं अपने-आप हट जाऊंगा । यदि आप मेरी शर्तों पर नहीं चलते और अगर आप इन शर्तों में मेरे प्रति अपनी वैयक्तिक श्रद्धा के समान ही विश्वास नहीं करते, तो आप लोगों को जेल जाने के बारे में सोचना ही नहीं चाहिये । आप को जान लेना चाहिये कि आप लोगों को एक खतरनाक शासक का साथ देना है जो आपको अवाञ्छनीय परिस्थिति में लाकर डाल सकता है । समन्वय मेरे स्वभाव का अभेद्य अंग है । अगर मैं उचित समझू तो बाइसराय के पास पचास दफा जाऊंगा ।” लेकिन, अखिरे खोलकर और सम्पूर्ण जानकारी में उन्होंने तालियों और जयघोष की गडगड़ाहट में प्रस्ताव को पास किया जिसकी प्रतिध्वनि घिरी हुई पहाड़ियों से टकराकर गूँज उठी । सम्पूर्ण मूल प्रस्ताव पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है ।

भवितव्य

“तर्क, न्याय और शान्ति के आधार पर दुनिया के दो बड़े राष्ट्रों को आपस में एक नया रिश्ता कायम करना क्या असंभव था ?” इसी प्रश्न को मौलाना ने अपने अध्यक्ष-पद के अभिभाषण में उठाया था, जिसका सारांश विगत अध्याय में दिया गया है। अब फिर से प्रश्न उठता है कि “क्या यह असंभव है ?”

यदि पिछली गलतियों को सुधार लिया जाय तो यह असंभव नहीं हो सकता।

सबसे पहली गलती तो वाइसराय महोदय ने की। उन्होंने सभी संभव समूहों और हितों को न्योता दिया और इस बात का कतई ख्याल नहीं रखा कि इनमें बहुत से ऐसे थे जो वस्तुतः अल्पसंख्यक न थे। सारी-की-सारी अल्पसंख्यकों की समस्या ब्रिटिश सरकार के द्वारा खड़ी की गई है, और उसकी चरमसीमा है “भेद करो और शासन करो” की नीति, जिसका प्रयोग आज लगभग चालीस वर्षों से बड़ी खूबी के साथ हो रहा है। वाइसराय महोदय ने कई दफा मुसलिम लीग के अध्यक्ष के साथ बातें कीं। लेकिन उन्होंने दूसरी मुसलिम संस्थाओं--राष्ट्रीय मुसलिम, जमियत-उल-उलेमा, अहरार, शिया और मोमिनों की संस्थाओं--के प्रति-निधियों से एक बार भी बात करना उचित न समझा।

वाइसराय महोदय की इस गलती को दूसरे अंग्रेज नीतिज्ञों ने दोहराया जिनमें लार्ड जेंटलमन भी थे। उन्होंने, एक तरफ अपने भाषण में यह दिखाने का ढकोसला किया कि वे समझौता और पारस्परिक एकता चाहते हैं और दुनिया के सामने ढिंढोरा पीटा कि बातचीत का दरवाजा अब भी खुला है। लेकिन उन्होंने दूसरी तरफ अल्पसंख्यकों की सूची में

हत्तों को जोड़ दिया, जिसने एक उदार समझौते के रास्ते में रोड़े का काम किया। इस तरह उन्होंने जले पर नमक छिड़का।

फिर भी, कांग्रेस ने वास्तविक अथवा काल्पनिक अड़चनों का सामना करने के लिए सभी सम्प्रदायों का अपने-अपने ठीक अनुपात में प्रतिनिधित्व करने वाली विधान-निर्माण-समिति का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस तरह अल्पसंख्यकों की समस्या की महा भयकर गुत्थी को काटकर साफ किया। क्योंकि विधान-निर्माण-समिति में न केवल कांग्रेस और मुसलिम लीग के विचारों का प्रतिनिधित्व होने की प्रतीक्षा की जायगी बल्कि देशी रियासतों और अन्य गैर-कांग्रेसी विचारों की भी; बशर्ते कि ये सबके सब उसमें चुनकर आने की कोशिश करें। यदि उन्हें इसी में संतोष है तो बावजूद इसके कि कांग्रेस क्या कहती है और क्या नहीं कहती—कांग्रेस के लिए संभव नहीं कि वह अपनी ध्वजा झुकाए और अपनी मांग को कम करे—यह उन गैर-कांग्रेसी प्रतिनिधियों पर निर्भर होगा कि स्वाधीनता की मांग को छोड़कर, जिस बात का चाहें उस बात का निर्णय करें।

यहां यह याद रखना चाहिए कि विधान-निर्माण-समिति की मांग आज आकाश से बिजली के समान यकायक नहीं टूट पड़ी। न यह मांग इसलिए की जा रही है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत को प्रांतों की बिना अनुमति के ही युद्ध-लुप्त घोषित करके एक संकट उपस्थित कर दिया है। विधान-निर्माण-समिति का यह प्रस्ताव सबसे पहले डा० अन्सारी ने तथाकथित साम्प्रदायिक निर्णय से पैदा होनेवाली बहुसंख्य के सिलसिले में अपने मई १९३४ के वक्तव्य में किया था। 'नेहरू-सिफारिशों' को दाखिल दफ्तर कर देने के बाद से, कांग्रेस समय-समय पर अपने प्रस्तावों द्वारा साम्प्रदायिक समस्या के बारे में अपने विचार स्पष्ट करती रही है। कांग्रेस इस बात को जानती है कि एक तरफ हिन्दू और सिक्खों की एक बड़ी संख्या ने इस साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति अपनी घोर आपत्ति प्रकट की है, दूसरी तरफ मुसलमान, हरिजन और ईसाइयों के एक बड़े समुदाय ने इस निर्णय को तब तक के लिए स्वीकार किया है, जब तक कि इसके स्थान पर कोई सर्वसम्मत हल नहीं निकल आता। कांग्रेस इस बात का सदा प्रयत्न करती रहेगी कि इस समस्या का कोई राष्ट्रीय

हल निकाले; लेकिन, मेरी समझ में, राष्ट्र का विधान बनाने के लिए निर्भ्रित विधान-निर्माण समिति के बिना ऐसा हल असंभव है, और तब तक साम्प्रदायिक निर्णय के निर्दिष्ट तरीके अथवा प्रतिनिधित्व के अनुपात का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह गौरव की बात न होगी कि वह अपने विशुद्ध घरेलू भगड़ों के निपटारे के लिए किसी बाहर वाले को निर्भ्रित करे। ऐसा निर्णय सबको खुश करने में कभी सफल न होगा।”

तथाकथित साम्प्रदायिक निर्णय पर कांग्रेस कार्य समिति ने जून १९३४ में जो प्रस्ताव पास किया था उसमें भी विशाल निर्माण-समिति की आवश्यकता पर जोर दिया था।

“श्वेत पत्र के स्थान पर अगर कोई संतोषजनक उपाय हो सकता है तो वह है केवल विधान निर्माण समिति; जो बालिग मताधिकार अथवा उससे मिलते-जुलते मताधिकार के आधार पर चुनी गई हो और जिसमें अगर उचित समझा जाय तो अल्पसंख्यकों को यह अधिकार प्राप्त हो कि उनके प्रतिनिधि केवल उन्हीं अल्पसंख्यकों के मतदाताओं द्वारा चुने जाय।”

इसके बाद पांच साल पहले पं० जवाहरलाल नेहरू और हिन्दू-मुसलिम सम्प्रदायवादियों के बीच प्रसिद्ध विवाद छिड़ा, जिसमें सरमुहम्मद इकबाल के उत्तर में पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि राजनैतिक और साम्प्रदायिक समस्या का निर्णय करने के लिए केवल विधान निर्माण समिति ही उचित संस्था है।

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि न तो मुसलिम लीग ने और न किसी अन्य अल्पसंख्या ने कांग्रेस कार्यसमिति के उपरोक्त प्रस्ताव अथवा एक संतोषजनक विधान बनाने के लिए केवल विधान निर्माण समितिको उचित बताने वाले सुझाव पर कोई आपत्ति की थी। इस तरह कांग्रेस की मांग न तो नई है और न वह अन्तर्राष्ट्रीय संकट से लाभ उठाने के हेतु उपस्थित की गई है। ब्रिटेन के लिए केवल एक ही सम्माननीय उपाय है कि वह हिन्दुस्तान से विदा ले और उसे अपना विधान बनाने के लिए बिल्कुल मुक्त कर दे। साम्प्रदायिक अनबन का बीज साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति के प्रारम्भ से पड़ा। अब अंग्रेज शासक हिन्दुस्तान को यह कहने के अधिकार

१—काले टाइप के यह वाक्य भी बेसाई के हैं।

अनु०

कारी नहीं है कि उस पर उसका अपना कार्य-भार संभालने की जवाबदेही सौंपने के पहले वह (हिन्दुस्तान) उस विषय वृक्ष को पहले समूल नष्ट करे जिसका पौधा स्वयं उन्होंने (अंग्रेजों ने) लगाया और सींचा। यहां मैं केवल श्री० लायनेल कर्टिस के उन शब्दों को उद्धृत कर सकता हूं जिनसे बढ़ कर दूसरा विनाशकारी आभास नहीं मिलता :

“जब से कुछ साल पहले मतदात्री संस्थाओं का उद्घाटन हुआ था तब से इस सिद्धान्त की सहूलियत (पृथक साम्प्रदायिक मतदान की) अब तक के ब्रिटिश शासनकाल में महा भयंकर गलती साबित हुई है। मेरा विश्वास है कि अगर इस सिद्धान्त को जारी रखा गया तो हम हिन्दुस्तान पर जात-पात की एक नई प्रणाली लादने के ज़िम्मेदार ठहराये जायेंगे जो दिन-पर-दिन उसके जीवन को बरबाद करके छोड़ेगी। और जब तक यह प्रणाली कायम रहेगी, तब तक हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय एका कभी न हो सकेगा। यह प्रणाली जितने ही दीर्घकाल तक चलती रहेगी उतना ही उसका हटाना मुश्किल होगा। अन्त में उसका बिना गृह-युद्ध के हटाना असम्भव हो जायगा। हिन्दुस्तान ने राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिए हम पर विश्वास किया और हमने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करके—मैं कहूंगा—उसके विश्वास को खो दिया।”

लेकिन कहा जा रहा है कि मुसलिम लीग इस मांग का भी विरोध कर रही है और वह अब चाहती है कि हिन्दुस्तान को विभक्त कर दिया जाय। कांग्रेस का कहना है कि उसकी यह मांग भी उचित हो सकती है, बशर्ते कि वह न्यायोचित तरीके से चुने हुए मुसलिम प्रतिनिधियों द्वारा विधान-निर्माण-समिति में उपस्थित की जाय। मुसलिम लीग के इस प्रस्ताव की मौलाना ने एक बातचीत में बेतुका प्रस्ताव बताया है। उन्होंने कहा है—“जो इस प्रस्ताव को उपस्थित करते हैं, वे इतिहास, सदाचार तथा आधुनिक काल की प्रवृत्तियों से मुंह मोड़ते हैं। जब वे कहते हैं कि हम दो राष्ट्र हैं, तो वे इस बात को पहले से ही मानकर चलते हैं कि हिन्दुस्तान दो हिस्सों में विभक्त है। हममें से बहुतों के पूर्वजों में कोई अन्तर न था। मैं स्वयं उच्च श्रेणी की जाति के सिद्धान्त को नहीं मानता और न यही मानता हूँ कि दुनिया में विभिन्न वर्ण और जातियाँ हैं। मानव-जाति एक है और हमें एक दूसरे के साथ मिल जुल-

कर रहना चाहिये। परमात्मा ने हमें एक हजार वर्ष से एक सूत्र में बांध रखा है। हम लड़ते-भगड़ते रहे हैं, लेकिन हंगारा लड़ाई-भगड़ावे सभ्य भद्रकों के आपसी कगड़े के समान है। इसी प्रकार अंग्रेज अंग्रेजों से लड़ते रहे, जैसे उन्होंने रोज की लड़ाइयों में आपस से किया था। लेकिन उन्होंने इंग्लैंड को हिस्सा बांट करने की जिद नहीं की थी। इन हजार वर्षों में अपने पारस्परिक आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक और भौतिक लाभों का एक दूसरे पर प्रसर हुआ है। अब वे दुनिया की प्रगति को सदियों पीछे ढकेलना चाहते हैं। क्या ऐसा हो सकता है? नहीं। हमारे आपसी भेदों को बार-बार जतावे से कोई लाभ न होगा। क्योंकि किन्हीं दो मनुष्यों में समानता नहीं है। समान के उपसर्गों को चाहिये कि भेदों को छोड़कर समानता पर ही अधिक जोर दे। अतः ये राष्ट्रीय समस्या की साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति से घृणा करता हूँ। दुनिया में किसी भी जगह राष्ट्रीय सम्बन्ध का हल साम्प्रदायिक आधार पर नहीं हुआ है। हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गए उसके किसी भावी विधान में हिन्दू अथवा मुसलमानों को अपने स्थान या हित को हिन्दू अथवा मुसलमान की हैसियत से न देखना होगा, बल्कि किसान या जमींदार, मजदूर या पूंजीपति की हैसियत से देखना होगा। किसी भी स्वतंत्र विधान में धार्मिक स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार माना जायगा। लेकिन किसी भी तरह का विधान क्यों न हो, अगर उसमें सबके लिए अवसर की समानता अथवा आर्थिक स्वाधीनता का समावेश न होगा, तो वह विधान कौड़ी काम का न समझा जायगा। इस पर माथा-पच्ची करने से क्या फायदा? श्री० जिन्ना को मुसलमानों द्वारा चुनकर विधान-निर्माण-समिति में जाने दीजिये और भारतीय मुसलमानों की ओर से अपनी मांग पर जोर देने दीजिये।”

लेकिन जब से मुसलिम लीगा ने लाहौर में कुछ महीने पहले, हिन्दुस्तान को विभाजित करने का प्रस्ताव पास किया है, तब से घटनाओं की उथल-पुथल बड़ी तेज गति से होती रही है। इस प्रस्ताव ने मुसलिम जगत् के एक बड़े हिस्से को ऐसा धक्का पहुंचाया है कि मुसलिमलीग के बाहर के मुसलमानों ने अप्रैल के अन्त में दिल्ली के अन्दर एक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें उन्होंने इस प्रस्ताव को राष्ट्र-विरोधी और

मुसलिम-विरोधी कहकर उसकी निन्दा की। इस सम्मेलन में सात प्रमुख मुसलमानों की संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था और देश के समस्त भागों के हजारों मुसलमान इसमें उपस्थित थे।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष श्री अल्लाबख्श ने मुसलिम-लीग की “दो हिन्दुस्तानों” की योजना की सभी पहलुओं से बड़ी बारीकी से खानबीन की और उसके विनाशकारी तथा राष्ट्र विरोधी स्वरूप का प्रभावशाली तरीके से पर्दा फाश किया और मुसलमानों से अनुरोध किया कि इस आरोप का कि “हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दुस्तान की सर्वांगीण उन्नति में बाधक सिद्ध हुए हैं” तुरन्त और अधिकार-युक्त वाणीसे खण्डन करें। इस सम्मेलन ने अपने प्रस्तावों में घोषित किया कि उसका पाकिस्तान योजना से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह विधान निर्माण समिति का समर्थक है तथा वह इस आरोप का घोर विरोध करता है कि हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता में मुसलमान बाधक है।

ब्रिटिश सरकार को यह समझ लेना चाहिये कि जिस साम्प्रदायिक समस्या के हल को वं पहली शर्त की शकल में रखते हैं, वह हल तभी सफल हो सकता है जब वे सत्ता का परित्याग करें। जिल्हा साहब ने ‘डेली मेल’ के एक संवाददाता से कहा, “तर्क के रूप में मिस्टर गांधी चाहते हैं कि अपमान-जनक ब्रिटिश सगिनें यहां से तुरन्त हट जाय ताकि हिन्दुस्तान के लोग बिल्कुल स्वतंत्र वातावरण में अपने तरीके से आत्म-निर्णय की समस्या का निबटारा कर सकें।” गांधीजी ने इस बात को एक बार नहीं कई बार दोहराया है, लेकिन श्री० जिल्हा ने इसे समझा नहीं प्रथवा समझने की कोशिश नहीं की। गांधीजी ने तो यहां तक कह डाला है कि “वे किसी भी दिन अंग्रेजी सत्ता के स्थान पर मुसलमानों की सत्ता पसन्द करेंगे।” और अगर गृहयुद्ध छिड़ गया तो वह कुछ दिन प्रथवा कुछ महीने ही चलेगा एवं बाद में फिर से हम अपने-अपने कार-बार में जुट जायेंगे और “ब्रिटिश शासन का अन्त होते ही बावजूद मुस्लिम-लियों की भावी कल्पनाओं के भी हमारी उन्नति की गति इतनी तीव्र होगी जो पहले कभी न थी।”

देशी रियासतों की समस्या हमारे लिए रोड़ा नहीं बन सकती। अगर उन्हें ‘स्वाधीनता’ में प्रथवा ‘आत्मनिर्णय’ में कोई प्रयत्नाना भूत-

दीखता है तो वे ब्रिटिश भारत से अलग हो सकते हैं। अलस्टर और मुसलिम भारत में उपमा का सामंजस्य नहीं है। क्योंकि, यहां पर एक पृथक् मुसलिम भारत जैसी कोई चीज नहीं है। लेकिन अलस्टर और रियासती भारत में कुछ सामंजस्य हो सकता है। अगर सामंजस्य है तो भारतीय अलस्टर को पृथक् होकर ब्रिटिश भारत को अपने भाग्य का फैसला कर लेने देना चाहिए।

कांग्रेस ने इन तमाम योजनाओं को इसलिए उपस्थित किया कि ब्रिटेन चाहे तो इनमें से किसी को चुनकर उस पर अमल कर सकता है। लेकिन उसने इन सारी की-सारी योजनाओं को अनसुना कर दिया। कहा जाता है कि ब्रिटेन को एक अन्तर्राष्ट्रीय महान संकट का सामना करना पड़ रहा है। यह एक दुख की बात है कि वह यह नहीं समझ पा रहा है कि जहां तक भारत का सम्बन्ध है, यहां उसे उससे भी अधिक घोर संकट का सामना करना पड़ रहा है; क्योंकि यहां पर उसकी परीक्षा हो रही है और यहां की कसौटी पर वह खोटा साबित हो रहा है। वह सन् १९१७ से आश्वासनों पर आश्वासन देता आ रहा है, लेकिन उनपर अमल करने को ऐसी हकावटें बताकर टाल रहा है, जिनको—मुझे आशा है—मैंने काल्पनिक बताया है।”

मैंने जब कलकत्ता में मौलाना से इन विषयों पर बातचीत की, तो उनका दिल एक दम दुःखित हुआ कि ब्रिटेन ने गांधी के विकट संकट के समय में भी अपनी श्रेष्ठता की प्रवृत्ति का परित्याग नहीं किया। गांधीजी वायसराय महोदय से दो-तीन मर्तबा मिले; अन्तिम अवसर पर उन्होंने अपनी यह भी हार्दिक इच्छा प्रदर्शित की कि वे दोनों तब तक न उठें जब तक वे किसी समझौते पर न पहुंचें। लेकिन हुआ क्या? गांधीजी वायसराय महोदय से केवल एक ही बार मिलकर तुरन्त दिल्ली से रवाना होगये। इसके विपरीत अतीतमें क्या हुआ था? जब सन् १९२१ में गांधीजी लार्ड रीडिंग से मिले थे—यद्यपि असहयोगका आन्दोलन चल रहा था—तो इन दोनों में छःदफा देर-देर तक बातचीत होती रही थी। सन् १९३१ में गांधीजी और लार्ड इरविन मिले, तो दोनों में इससे भी अधिक बातचीत हुई और कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि बातचीत मंग होगी। वे दिनों में मिलते थे और कभी-कभी रात में इतनी देर तक बातचीत करते थे कि

सबरा तक होने आता था और अन्त में उन्होंने दोनों की दृष्टि से सम्मान-जनक समझौता कर ही डाला था । यह इसलिए होता था कि लार्ड इरविन को समझौता करने का आदेश मिला था । लेकिन स्पष्ट है कि लार्ड लिनलिथगो को ऐसे सम्पूर्ण अधिकार न थे । आयर्लैण्ड में क्या हुआ ? अति घोर हिंसात्मक उपद्रव हो रहे थे और यह अनुमान लगाना मुश्किल था कि रक्तपात का कब अन्त होगा । फिर श्री० लायड जार्ज ने हिंसाकारी उपद्रवियों को सम्मेलन में उपस्थित होने का न्योता दिया, दिनों तक बातचीत चलती रही और अन्त में सम्मान युक्त समझौता करके ही छोड़ा । मिस्र में क्या हुआ ? बातचीत के भग होने के फलस्वरूप अनियंत्रित भीषण प्रदर्शनों के बावजूद भी सम्राट जंगलूल पाशा को कितनी ही बार लण्डन बुलाया गया । यह कहना व्यर्थ है कि ब्रिटेन पाशवी शक्ति को छोड़कर दूसरी शक्ति की उपयोगिता से अनवगत है ।

जहां तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, जहां तक गांधीजी का सम्बन्ध है कोई बात उठा नहीं रखी जायगी, जिससे आन्दोलन को किसी भी अवस्था में अहिंसा की सीमा से बाहर होने दिया जाय; और गांधीजी सत्याग्रही सेना के स्वयं सेनापति की हैसियत से यथा सम्भव सविनय अवज्ञा तक को टालने का प्रयत्न कर रहे हैं । अगर सविनय अवज्ञा अनिवार्य हो जाय तो उसे इस तरह नियंत्रित करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे ब्रिटिश सरकार को कोई दिक्कत न हो । लेकिन परिस्थिति उनके काबू के बाहर हो सकती है, और हो सकता है कि ऐसी अवस्था में वे बाढ़ को रोकने में अपने आपको असमर्थ पायें । ऐसी दशा में जैसा कि उन्होंने कहा है परमात्मा भारत की सहायता करे और परमात्मा ब्रिटेन की सहायता करे ।

परिशिष्ट

रामगढ़ कांग्रेस का प्रस्ताव

निम्नलिखित एक मात्र प्रस्ताव मार्च १९४० के कांग्रेस के खुले अधिवेशन में पास हुआ था

“यह कांग्रेस यूरोप में युद्ध से पैदा होने वाली गंभीर और नाजुक परिस्थिति तथा तत्सम्बन्धी ब्रिटिश नीति पर विचार करने के बाद, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी एवं कार्य समिति द्वारा युद्ध परिस्थिति पर पास किये हुए प्रस्तावों तथा उन पर की-हुई करवाइयों को स्वीकार करती है और उनका समर्थन करती है। हिन्दुस्तान की जनता से बिना पूछे ही देश को युद्धलिप्त करने वाली हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार की घोषणा को तथा हिन्दुस्तान की सम्पत्ति का इस युद्ध में उपयोग करने को यह कांग्रेस हिन्दुस्तान की जनता का अपमान समझती है, जिसको कोई स्वामिमानी और स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्र न तो स्वीकार कर सकता है न बरदाश्त। हिन्दुस्तान के बारे में ब्रिटिश सरकार की ओर से की हुई घोषणाएं प्रदर्शित करती हैं कि इंग्लैंड का यह युद्ध साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए और अपने उस साम्राज्य को स्थिर रखने तथा शक्तिशाली बनाने के लिए हो रहा है जिसका आधार है हिन्दुस्तान तथा एशिया एवं अफ्रीका के देशों की जनता का शोषण। इन परिस्थितियों से स्पष्ट है कि कांग्रेस प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी तरह युद्ध में भाग नहीं ले सकती; क्योंकि इसका अर्थ होता है इस शोषण को प्रबलित रूप से जारी रखना। इसलिए कांग्रेस भारतीय सेना का इंग्लैंड के लिए लड़ाया जाना तथा हिन्दुस्तान से इस युद्ध के लिए जन और सामग्री का भेजा जाना बिल्कुल नापसंद करती है। हिन्दुस्तान में सेना की मर्ती और चन्दे की बसूली हिन्दुस्तान की स्वेच्छा से देन नहीं

समझी जा सकतीं। कांग्रेस जन और वे जो कांग्रेस के प्रभाव में हैं, जन, धन अथवा साजो सामान से इस युद्ध में सहायता नहीं दे सकते।

“कांग्रेस इस प्रस्ताव द्वारा पुनः घोषित करती है कि हिन्दुस्तान की जनता को पूर्ण स्वाधीनता से कम कोई चीज स्वीकृत नहीं हो सकती। भारतीय स्वतन्त्रता साम्राज्यवाद के दायरे में पनप नहीं सकती, और साम्राज्यवादी ढाँचे में औपनिवेशिक दर्जा अथवा कोई भी अन्य दर्जा हिन्दुस्तान के लिए बिलकुल बेकार है, क्योंकि इससे हिन्दुस्तान ब्रिटिश नीतियों और आर्थिक गठन से बन्दी हो जायगा। केवल भारत की जनता ही बालिग मताधिकार के आधार पर निर्मित विधान निर्मात्री समिति के द्वारा अपना विधान ठीक-ठीक तोर से बना सकती है और मसार के अन्य देशों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकती है।

कांग्रेस की यह भी राय है कि यद्यपि वह साम्प्रदायिक मेल कराने के हर तरह के प्रयत्न करती रहेगी, जैसे कि वह अब तक करती आई है, लेकिन कोई ऐसा स्थायी हल बिना विधान निर्मात्री समिति के असंभव है। यथासम्भव माने हुए सभी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा विभिन्न बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के समझौते द्वारा सम्पूर्ण रक्षा होगी अथवा किसी बात पर समझौता न हो सका तो पचायत का सहारा लिया जायगा। इसके सिवाय कोई भी उपाय अपर्याप्त सिद्ध होगा। स्वाधीनता, लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एका ही भारतीय विधान की आधारशिला होनी चाहिए और कांग्रेस भारत के विभाजन अथवा उसकी राष्ट्रीयता के टुकड़े करने के प्रयत्नों का घोर विरोध करती है। कांग्रेस ने सदा से ऐसे ही विधान को अपना लक्ष्य बनाया है जिसमें व्यक्ति या व्यक्ति-समूहों के विकास की पूर्ण स्वाधीनता और अवसर के अधिकारों की रक्षा हो, तथा जिसमें सामाजिक अन्यायों के स्थान पर न्यायोक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो।

कांग्रेस भारतीय स्वतन्त्रता के मार्ग में देशी नरेशों अथवा विदेशी निहित स्वार्थों के अधिकार को स्वीकार नहीं कर सकती। हिन्दुस्तान में सर्वोच्चसत्ता जनता के हाथों में होनी चाहिये चाहे वह जनता रियासतों में बँटती हो अथवा प्रान्तों में; तथा अन्य स्वार्थ उसके असली स्वार्थों के अधीन होने चाहिये। कांग्रेस की धारणा है कि रियासतों के बारे में

उठाई हुई भड़कन भंग्रेजों की उपज है और यह भड़कन तब तक सतोष-जनक तरीके से नहीं हट सकती, जब तक विदेशी सत्ता द्वारा बिना किसी लाग-लगाव के भारत की स्वतन्त्रता नहीं घोषित होती। विदेशी हितों का संरक्षण होगा बशर्ते कि वह स्वार्थ भारतीय हितों के विपरीत न हों।

“हिन्दुस्तान के युद्ध में भाग न लेने के कारण विदेशी सत्ता से भारत को मुक्त करने के कांग्रेस के निश्चय को अमल में लाने के लिए कांग्रेस ने उन प्रान्तों से मन्त्रि-मण्डलों को हटा लिया जहाँ कांग्रेस बहुमत में थी। इस प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद स्वभावतः सविनय अवज्ञा आन्दोलन की कार्रवाई होनी चाहिये और इसकी तैयारी पूरी होते ही कांग्रेस इस आन्दोलन को छेड़ने में आगे पीछे नहीं देखेगी अथवा ऐसी परिस्थितियाँ आ उपस्थित होने पर जिनके कारण तैयारी के पहले ही आन्दोलन छोड़ देने की आवश्यकता हो तो वह सविनय अवज्ञा शुरू कर देगी। कांग्रेस की इच्छा है कि कांग्रेस जनों का ध्यान गांधीजी की घोषणा की ओर आकर्षित किया जाय कि वे ही केवल सविनय अवज्ञा की घोषणा की जवाबदारी ले सकते हैं, जब उन्हें सतोष हो जाय कि कांग्रेसजन अनुशासन का अक्षरशः पालन कर रहे हैं और स्वाधीनता की प्रतिज्ञामें निर्दिष्ट रचनात्मक कार्यक्रम को अमल में ला रहे हैं।

“कांग्रेस बिना किसी धर्म या वर्ण के भेद-भाव के सभी वर्गों और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है तथा भारतीय स्वाधीनता के लिए अग्रिम समस्त देश की स्वाधीनता के लिए है। अतः कांग्रेस आशा करती है कि सभी वर्ग और सम्प्रदाय इसमें हाथ बटाये। सविनय अवज्ञा का हेतु समस्त देश में त्याग की भावना को जगाना है।

यह कांग्रेस इस प्रस्ताव द्वारा अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का और आवश्यकता पड़ने पर कार्य समिति को अधिकार देती है कि समिति यदि उचित समझे तो प्रस्ताव को अमल में लाने की समस्त कार्रवाई करे।”

ताज़ा कलम

पिछले सब पक्छेद १८ मई को तैयार हो चुके थे और २० मई को हवाई डाक से लन्दन मे प्रकाशकों के पास भेज दिये गये थे । दो महीने तक मैं उनकी प्राप्ति-स्वीकार की प्रतीक्षा करता रहा और फिर मेने तार से पूछा कि उन्हें पुस्तक की पाण्डुलिपि मिली है या नही । उन्होंने मुझे तार से जवाब दिया कि “२० मई की हवाई डाक खो गई सी मालूम पडती है ।” अब उसकी खोज करना बेकार था, इसलिए अगर प्रकाशक फिर भी पुस्तक को छापने के लिए तैयार है तो पाण्डुलिपि को समुद्री डाक से भेजी जाय । प्रकाशन करने की उनकी इच्छा मालूम करने के बाद मैं इसे समुद्री डाक से भेजने का अवसर ले रहा हूं यद्यपि मैं जानता हूं कि आजकल यह भी जोखिम से खाली नहीं है । मैं उसे तीन महीने के बाद ज्यों की त्यों भेज रहा हूं और एक संक्षिप्त ताजा कलम मे मैंने इस अवधि की घटनाओं को भी लिख डालना उचित समझा ।

कांग्रेस इस सारी अवधि मे धैर्य के साथ इन्तजार करती रही और नेतागण चिन्ता प्रगट करते रहे कि सरकार को दिक्कत में न डाला जाय, जब कि वह अपने जीवन और मरण के संग्राम में फंसी हुई है । लेकिन स्पष्ट रूप से इस चिन्ता को गलत समझा गया—यहां तक कि उससे नाजायज फायदा उठाया जाने लगा । पिछली जून में कांग्रेस एक अग्नि-परीक्षा के अन्दर से गुजरी जब कि गांधीजी को कार्यसमिति का सामना करते हुए इस बात को देखना पड़ा कि आन्तरिक उपद्रव और बाह्य आक्रमण की परिस्थिति में अहिंसा और हिंसा के बीच में कौनसा मार्ग उचित होगा । गांधीजी ने कहा, “एक समय आ सकता है कि सत्ता का भार संभालने के लिए कांग्रेस को निमंत्रित किया जा सकता है । अब यह उचित समय है कि हम अपनी नीति की घोषणा कर दें,

बसबकर ऐसे अवसर पर, जब क, आन्तारक उपद्रव और भराजकता तथा बाह्य आक्रमण की संभावना है। हमने स्वतंत्रता को केवल अहिंसा से ही प्राप्त करने की शपथ ली है। अब हमें उसके अनिवार्य पहलू को भी घोषित करना है कि हम स्वाधीनता की रक्षा भी अहिंसा से ही करेंगे।" कार्यसमिति के सदस्य पक्षोपेश में पड़ गए। उन्हें विकट परिस्थिति की आशंका थी; अतएव उन्होंने गांधीजी के प्रस्ताव को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रगट की। इस असमर्थता-प्रदर्शन में मीलाना अबुल कलाम आजाद कार्यसमिति के साथ थे। कार्यसमिति के निर्णय से गांधीजी को आश्चर्य और दुःख हुआ क्योंकि उनके लिए अहिंसा का अर्थ सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट था। लेकिन उन्होंने कार्यसमिति के सदस्यों को उनकी स्पष्टोक्ति और सचाई के लिए बधाई दी, यहां तक कि उन्होंने श्री० चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को उनके नये मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित किया कि वे सरकार को न केवल नैतिक सहयोग प्रदान करें, बल्कि शस्त्र-बल का—बशर्ते कि सरकार की ओर से स्वाधीनता की घोषणा हो और केन्द्र में उत्तरदायी राष्ट्रीय-सरकार कायम करनेकी योजना। ऐसे अवसर पर जहां एक तरफ गांधीजी ने अपना मत प्रदर्शित किया और प्रस्ताव की भाषा में उत्साह विलाया, दूसरी तरफ वे दुःखित हो रहे थे और लगभग कामना कर रहे थे कि सरकार कार्यसमिति द्वारा बढ़ाये हुए हाथ को स्वीकार न करे। क्योंकि उनकी यह पक्की धारणा थी कि 'अगर हिन्दुस्तान ने इस युद्ध में शस्त्र-बल से सहयोग दिया तो, राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा का दरवाजा हमेशा के लिए बन्द हो जायगा।

इसलिए जब वाइसराय ने अपनी आठ अगस्त को प्रसिद्ध घोषणा की कि सरकार की इच्छा युद्ध-समाप्ति के बाद कुछ शर्तों के साथ भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा देने की है तथा वह वाइसराय की कार्यसमिति में और सदस्य सम्मिलित करने वाली है और क्योंकि औपनिवेशिक स्वराज्य के साथ शर्तें जोड़ने से इसको निकम्मा बना दिया था, गांधीजी ने घोषणा को विनाशकारी बताते हुए उसपर कुछ प्रदर्शित करने के साथ अहिंसा की दृष्टि से ईश्वरीय दैत के रूप में उसका स्वागत किया। इसके बाद श्री एमरी का भाषण आया, जिसने दुःख के प्याले को लबा-

लव भर दिया। इसमें भारत को कई टुकड़ों में बांटने पर जोर दिया गया तथा ब्रिटिश नीति के सूत्र "भेद करो और शासन करो" को सर्वोपरि रखा। श्री० एमरी ने यद्यपि ब्रिटिश सरकार का पक्ष विशेषों में से केवल एक पक्ष की हैसियत से वर्णन किया फिर भी उसमें समस्त भारतीय जनो की इच्छा के विरुद्ध उसके विशेषाधिकार की गूँथी। उन्होंने भारतीय जनता की इच्छाओं को जाने बिना ही रियासतों की ओर से बोलने का दावा किया; उन्होंने मुसलिम लीग कितने मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है यह जाने बिना ही मुसलमानों के बारे में बोलने का दावा किया, इसी तरह उन्होंने "दलित-वर्गों" के बारे में भी बोलने का दावा किया और उनकी असली अवस्था की ओर से एकदम घांखे बन्द कर ली तथा इस बात की भी रच मात्र परवाह न की कि उनके लिए क्या-क्या किया गया है। उन्होंने हिन्दुस्तानसे अनुरोध किया कि वह ब्रिटिश प्रजातंत्र के कार्य में सहायता दे, लेकिन साथ-साथ उन्होंने हिन्दुस्तानमें लोकतंत्र को पँरो तले रौंद दिया। उन्होंने कांग्रेस के इस निश्चयको अच्छी तरह जानते हुए कि वह अहिंसा का साथ न छोड़ेगी और वह ब्रिटेन को मुसीबत में डालने के लिए चिन्तित है, नाक-भों सिकोड़कर कह डाला कि "कांग्रेस जो चाहे वह करे" फिर भी वाइसराय उन लोगों के साथ काम करने में पीछे कदम न हटायेगे, जो सहयोग देने के लिए तैयार हैं और ऐसे लोगों से वे मिल-जुल कर काम करेंगे।"

वाइसराय ने मौलाना को बातचीत के लिए निमन्त्रण भेजा। मौलाना ने इस निमन्त्रण को अस्वीकार किया, जिस पर सरकारी हलकों में उल्टी-सीधी टिप्पणियाँ हुईं। निमन्त्रण को अस्वीकार करने का मौलाना का तरीका बहुत ही सौजन्यपूर्ण था, जिसको उन्होंने अच्छी तरह जान लेने के बाद किया था। क्योंकि निमन्त्रण के साथ एक शर्त जुड़ी हुई थी, जिसके कारण दोनों की बातचीत से किसी फल की गुंजाइश न थी। मौलाना यदि वाइसराय से मिलते तो उन्हें सारी-की-सारी "बातचीत को आठ अंगुली वाली घोषणा के भीतर ही सीमित रखना होता, जिसको कांग्रेस ने एकदम अपर्याप्त बताया है।"

जहाँ तक वाइसराय की घोषणा का सम्बन्ध है, यहाँ यह उल्लेख कर देनी अनुचित न होगा कि महामान्य व्ही० एस० श्रीनिवास शास्त्री

जैसे तरम दली नेता को अपने वक्तव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ा: "सरकार न केवल १९३५ के विधान की धाराओं की फिर से छानबीन करने का जिम्मा लेती है, बल्कि 'उन नीति और योजनाओं की भी जिन पर वह आधारित है' तथा वह 'राज्य की किसी भी प्रणाली' पर विचार न करेगी 'जिसकी सत्ता को भारत के राष्ट्रीय जीवन के बहुत से प्रभावशाली व्यक्तियों ने सीधे मानने से इन्कार कर दिया हो'। इन शब्दों का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि यह घोषणा समझौता न करने का अधिकार-पत्र है। क्या अङ्गुबाजों के लिए असीम विशेषाधिकार चाहिये?" श्री एमरी के वक्तव्य पर कलकत्ता के 'स्टेट्स-मैन' ने इस तरह लिखा: "हमें संदेह है कि भारत-मंत्री ने कांग्रेस को अच्छी तरह समझा है, जिसने कुछ वर्षों तक माण्टेगू-चेम्सफोर्ड विधान का बहिष्कार किया और बीच-बीच में वह उस बहिष्कार को दोहराती रही तथा इधर उसने अपने सदस्यों को धारासभाओं से बाहर रखा, अब युद्धोपाय की हैसियत से अपने सहयोग का हाथ बढ़ाया और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को सन् १९१९ के विधानके अनुसार—किन्तु उसमें से सरकारी सदस्यों को हटाने के बाद—मानने के लिए तैयार है, बशर्ते कि सरकार ऐसी व्यवस्थापिका सभा के प्रति—कानूनन न सही—व्यावहारिक रूप से ही जवाबदेह हो, और जवाबदेही वेस्टमिनिस्टर से हटा कर भारतके सुपुर्द कर दी जाय। अगर हमने प्रस्ताव को ठीक से समझा है तो कांग्रेस वर्तमान व्यवस्थापिका सभा को बगैर आम चुनाव के ही चलाने के लिए तैयार है। यह साफ-साफ नहीं कहा जा सकता कि इससे कांग्रेस के पक्ष में भविष्य पर क्या असर होगा अथवा वह कार्य के परिणाम स्वरूप व्यवस्थापिका सभा के बारे में या समस्त विधान के बारे में समझौते की आशा करती है। एक युद्धकालीन व्यवस्था की हैसियत से इसमें हम न कोई उद्दण्डता देखते हैं और न भय; किन्तु विपरीत इसके, ऐसे हल को अस्वीकार करने से समय के प्रतिकूल राजनीति की विनाशकारिता और भय की गंध पाते हैं।

"वर्तमान व्यवस्थापिका सभा के आधार पर एक राष्ट्रीय सरकार को बनाने का प्रस्ताव वस्तुतः उतना ही बुद्धिसंगत है जितना कि हिन्दु-स्तान में कभी भी उसके स्वतन्त्र होने पर हो सकता है। अगर सरकारी

सदस्यों को—जिनकी संख्या लगभग २६ है—हटा दिया जाय तो, और सरकारी मनोनीत सदस्यों को भी—जिनकी संख्या लगभग १४ है—अंशतया अथवा पूर्णतया विदा लेने के लिए कहा जा सकता है और इनके रिक्त स्थान रियासती प्रतिनिधियों से भरे जा सकते हैं। मनोनीत सदस्य अपनी इच्छानुसार राय देने के लिए सर्वथा मुक्त रहे हैं और कई मर्तबा इन्होंने वर्तमान नौकरशाही सरकार के विपक्ष में अपनी राय दी है। इस तरह युद्धकाल में संघ-शासन के अल्परूप का सूत्रपात हो सकता है। अगर निश्चय की कमी न हो तो वैधानिक अडचनों को आसानी से दूर किया जा सकता है। हमें आशा है कि ब्रिटिश सरकार इस प्रस्ताव पर गम्भीरता से खूब विचार करेगी। यह हमें सदा से व्यवहारिक और उन्नति का निकटतम मार्ग जचता रहा है।”

लेकिन सरकार ने तो तय कर लिया था कि वह “राजनीति के विनाशकारी” मार्ग का ही अनुसरण करेगी। उसने विधान निर्मात्री समिति द्वारा निम्न विधान की कांग्रेस की माग को ठुकरा दिया। उसने कांग्रेस द्वारा बढ़ाये हुए हाथ को ठुकरा दिया, जिसके स्वीकार करने में कोई वैधानिक अडचने न थी। उन्होंने ऐसा करके अपने लिए न केवल आफत खड़ी कर दी बल्कि श्री लायनेल के शब्दों में “भारत का विश्वास खो दिया।” अब सिवा सरकारी चुनौती स्वीकार करने के कांग्रेस के सामने कोई उपाय न था। लगभग एक वर्ष तक कांग्रेस प्रतीक्षा करती रही, इस बीच मनमानी तौर से कांग्रेसजनों की गिरफ्तारियां हो रही थी, युद्ध-कर्ज और युद्ध-चन्दा वसूल करने के लिए जोर जुल्म के उपाय अमल में लाये जा रहे थे, तथा इस तरह के धोखे के प्रयत्न जारी थे कि दुनिया विश्वास करे कि हिन्दुस्तान पूर्ण रूप से युद्ध में अंग्रेजी सरकार को मदद दे रहा है। कांग्रेस कार्य समिति ने अपनी ता० १८ अगस्त की वर्षा की सभा में निश्चय किया कि वह सरकार को परेशान न करने की अपनी चिन्ता का असहनीय सीमा तक फायदा उठाने की नाजायज हरकत को चलने न देगी और उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा १५ सितम्बर को बम्बई में रखी, जो सरकार की हरकतों पर अन्तिम कार्रवाई करने का निर्णय करे। इस बीच वर्षा सभा के बाद जो सबसे गांधीजी द्वारा सुभाष अहिंसा के प्रयोग से असहमत थे वे

उमसे कुछ दिनों तक तर्क करते रहे और वे आपस में ऐसी बात पर सहमत हुए, जिससे गांधीजी फिरसे कांग्रेस का नेतृत्व तुरन्त ग्रहण करने के लिए तैयार हो गये। हमारा भविष्य पूर्ण रूप से अंधकारमय है, लेकिन जो कर्तव्य का पालन करता है वह उसका मूल्यांकन नहीं करता और इस विश्वास से कि 'हे परमात्मा मैंने अपने आपको तेरे सुपुर्द कर दिया अब तू जैसा चाहे वैसा कर' वह भविष्य के सुख-स्वप्नों में तन्मय नहीं होता।

हम जानते हैं कि जोखिमें बहुत ही बड़ी हैं। कांग्रेस ने जो मांग रखी थी अथवा जो हाथ बढ़ाया था जिसको "स्टेट्समैन" ने बुद्धि-संगत और यहां तक कि "एक वास्तविक सहूलियत" बताया था, उसको आसाम के गवर्नर ने अपने हाल के भाषण में "समस्त भारतीयों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न—जैसा प्रयत्न मुसोलिनी ने सन् १९२८ में किया था अथवा सन् १९३३ में हिटलर ने किया था" के रूप में वर्णन किया है। इससे मालूम होता है कि कहा तक गलतफहमिया फैलाई जा सकती है और कहां तक दमन किया जा सकता है। लेकिन कांग्रेस को बड़ी-से-बड़ी जोखिमों के बावजूद भी अपने लक्ष्य की ओर बखटके बढ़ना है, क्योंकि वह लक्ष्य एक निधि के रूप में है जिसके बारे में उसे ईमानदार होना चाहिए अथवा उसे स्वाधीनता अहिंसा के उपाय से प्राप्त करनी है और संसार को दिन-पर-दिन फैलने वाली हिंसा की ज्वाला से बचाना है। यह संग्राम विकट भयंकर और लम्बा चलनेवाला हो सकता है जिसमें अब तक के बलिदानों से कहीं अधिक बलिदान करने पड़ेंगे। फिर भी जैसा राष्ट्रपति मसारिक ने कहा था—“एक विश्वास—परमात्मा की दृष्टि हम पर और संसार पर लगी है, कोई कारण नहीं हो सकता कि हम आत्मत्यागी और अकर्मण्य बने बल्कि यह विश्वास तो हमें आशावादी बनाकर अपने प्रयत्नों में केन्द्रीभूत करता है और मनोकामना की पूर्ति के लिए दृढ़ निश्चय से कार्य करने का आदेश देता है।” हिंसा के अनुयायी अपनी अन्तरात्मा को धोखा दे सकते हैं; किन्तु अहिंसा के पुंवारी नहीं।

१. श्री मसारिक बेकोस्लोवेकिया के राष्ट्रपति रहे हैं—अनु०

